শীরা



५०

शीराज़ा

द्विमासिक

हिन्दी

प्रमुख सम्पादक : मुहम्मद यूसुफ टेंग सम्पादक : रमेश मेहता

वर्ष १६ / अंक १ (मई १९८०) ; सम्पादकीय पत्र व्यवहार : रमेश मेहता, सम्पादक : शीराज़ा हिन्दी, जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी, नहर मार्ग, जम्मू ;

फोन : ५०४० यह अंक : दो रुपये वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रमणिका

अपनी बात

●

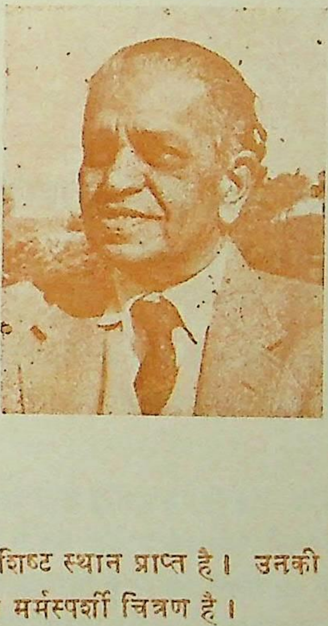
प्रेमचंद एक ऐसे रचनाधर्मी कलाकार थे जिनकी जड़ें गांव की मिट्टी और जन-जीवन के बीच समाई हुई थीं और वहीं से वे अपनी रचनाओं के लिए खाद-पानी प्राप्त किया करते थे। उनसे सम्बन्धित अनेक विद्वानों के संस्मरण इस बात की साक्षी देते हैं कि प्रेमचंद का अधिकांश समय साधारण जन से बोलने-बतियाने में बीतता था और उनकी रचनाएं इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि इसी साधारण जन को वे अपनी रचनाओं में 'उदात्त' बनाकर प्रस्तुत किया करते थे। यही कारण है कि तत्कालीन और परवर्ती आलोचक चाहे उन्हें आदर्श, यथार्थ और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद आदि के चौखटों में बांधते रहे···वे अपनी रचनाओं को प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा करके उतारते हैं और उनकी रचनाओं में आई स्थितियां हमें विश्वसनीय लगती हैं। ऐसे प्रबुद्ध एवं जन-जीवन से जुड़े हुए कथाकार की परम्परा को शहरों में बैठ कर गांव की बात कहने वाले कथाकार किस सीमा तक आगे बढ़ा सकते हैं—इस पर सहज ही प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता है। फिर भी हमें यह उचित लगा कि हम यह देखने की कोशिश तो करें कि क्या प्रेमचंद की कोई परम्परा है? यदि हां, तो उसे कौन लोग, किस रूप में आगे बढ़ा रहे हैं? यह उत्सुकता भी जागती है कि जैसे गांधी के नाम पर किए जाने वाले अनुष्ठान गांधी की विचारधारा से कोसों दूर होते हैं, कहीं प्रेमचंद के नाम की दुहाई देने वाली रचनाओं की भी तो वही स्थिति नहीं है? सम्प्रति हिन्दी आलोचना में एक बड़ी ही घातक प्रवृत्ति पनप रही है, बल्कि यूं कहना चाहिए कि यौवनावस्था को प्राप्त हो रही है, कि हम असली मुद्दों को उनके सही संदर्भों से काट कर अपने बनाए हुए चौखटों में फिट कर देते हैं और उसे चमकदार एवं चमत्कारी आलोचना का जामा पहना कर मार्केट में छोड़ देते हैं। इसी चिन्तन-अनुचिन्तन का परिणाम है शीराज़ा का प्रस्तुत विशेषांक जो 'कलम के सिपाही' और 'कलम के धनी' मुंशी प्रेमचंद की स्मृति को समर्पित है।

●

मुंशी प्रेमचंद के जन्म-शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में अब तक अनेक स्थानों पर, विशेष रूप से दिल्ली में, अनेक भव्य आयोजन किए गए। इन आयोजनों की सार्थकता इस रूप में तो

हो सकती है कि प्रतिष्ठित और नवोदित साहित्यकार एक मंच पर इकट्ठा होकर उस महान 'कलमजीवी' को श्रद्धांजलि अर्पित करें, उसकी रचनाओं को बदली हुई परिस्थितियों और बदली हुई मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में पुनर्मूल्यांकित करें। किन्तु मैं यह नहीं समझ पाता कि इससे 'घीसू', 'होरी', 'गोबर' या उन्हीं जैसे अनेकानेक लोगों को क्या लाभ मिल सकता है। अभी भी प्रेमचंद का साहित्य ऐसे तमाम लोगों की पहुंच से परे है कि जिनकी व्यथा-कथा को प्रेमचंद ने अपनी कथाकृतियों का कथ्य बनाया था। आवश्यकता इस बात की है कि इन आयोजनों पर होने वाले सरकारी-गैर सरकारी व्यय में कुछ थोड़ी सी कटौती करके प्रेमचंद के सम्पूर्ण कथा साहित्य को दो-चार खण्डों में प्रकाशित करके, कम से कम मूल्य में, लोगों के हाथों में पहुंचाने की व्यवस्था की जाये। प्रेमचंद साहित्य ढूंढने के लिए आपको किसी भी शहर में दुकान-दुकान भटकने की आवश्यकता न पड़े और न ही प्रेमचंद को पाठ्यक्रमों के 'लॉकरों' में बंद मान कर संतोष कर लिया जाये। समाचार-पत्रों में तथा बड़ी-बड़ी पत्रिकाओं में प्रेमचंद समारोहों को लेकर प्रकाशित 'रपटें' जनता को समसामयिक राजनेताओं अथवा साहित्य के अखाड़ेबाज़ों का परिचय तो दे सकती हैं, प्रेमचंद की मूल संवेदना से उनका साक्षात्कार नहीं करवातीं।

—रमेश मेहता



संदेश

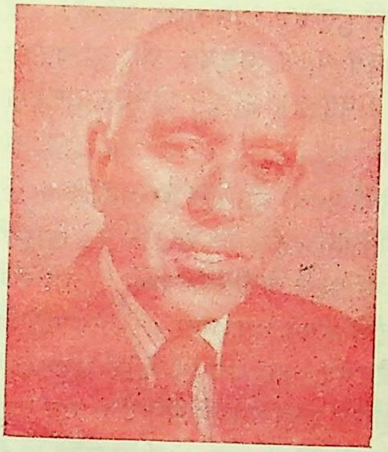
हिन्दी साहित्य में मुंशी प्रेमचंद को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनकी रचनाओं में भारत में ग्रामीण जीवन का वास्तविक व मर्मस्पर्शी चित्रण है।

मुझको यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि 'शीराजा' का मई अंक प्रेमचंद विशेषांक होगा। मैं इस पत्रिका की सफलता की कामना करता हूँ।

लक्ष्मीकांत झा

राज्यपाल

जम्मू व कश्मीर



एक बेशकीमत विरसा और हम

—शेख मुहम्मद अब्दुल्ला

मुख्य मंत्री, जम्मू व कश्मीर सरकार

हमारी कौमी ज़िन्दगी में मुंशी प्रेमचंद महात्मा गांधी के साथ वही मुनासबत रखते हैं जो मैक्सिम गोर्की लेनिन के साथ रखते हैं। अगर एक अमल का सिपाही है तो दूसरा कलम का धनी।

नुमायन्दा हिन्दोस्तानी अदब में मुंशी प्रेमचंद का नाम हमेशा ही इज़्ज़त और एहतिराम से लिया जायेगा। इस साल सारे मुल्क में इस अज़ीम अफसानानिगार और नावलनवीस की एक सौवीं सालगिरह मनाई जा रही है। इस सिलसिले में अब तक कई तकरीबें हुई और साल भर यह सिलसिला चलता रहेगा। हिन्दोस्तान के इस मुख़लिस अदीब और इंसानदोस्त कलमकार की याद को ताज़ा करने के लिए इस किस्म की तकरीबें हों—लायके-तारीफ़ हैं। लेकिन इसके साथ ही मैं प्रेमचंद के वारिस अदीबों और कलमकारों को प्रेमचंद की ज़ाती और मजलिसी ज़िन्दगी और कारनामों से सबक लेने की तवक्क़ो भी करता हूँ। प्रेमचंद ने एक जाबर गैर-मुल्की हुक्मरान के ज़माने में एक अज़ीम कारनामा अंजाम दिया, तकलीफें उठाईं, अज़ीयतें सहीं, सरकार की नज़रों में हमेशा मशकूक बने रहे लेकिन अपने मुल्क और अपने लोगों के लिए उनके दिल में प्यार और प्रेम की जो ज्वाला भड़क रही थी उसकी तमाज़त[1] और हिद्दत[2] उन्होंने अपने अफसानों, नावलों नाटकों और

१. ताप २. प्रचंडता

मज़मूनों में भर दी। प्रेमचंद तख़लीक़ी अमल को वजहाए-शोहरत नहीं समझते थे। इस अमल से उनकी माली मुशकिलात भी बहुत ज्यादा हद तक दूर नहीं होती थीं। लेकिन इसके बावजूद वह लिखते गये। उन्होंने सैंकड़ों अफसाने और दर्जनों नाटक लिखे। वह लिखने के लिए मजबूर थे। तख़लीक़ी अमल उनके लिए मशग़ला या हॉबी नहीं थी बल्कि यह उनकी ज़िन्दगी का सबसे अवलीन मक़सद था। एक जुनून था जिसके हाथों बेबस होकर वह लिखा करते थे। और उस जुनून का नतीजा यह निकला कि आज भी, जबकि प्रेमचंद को हमसे जुदा हुए ४४ साल गुज़र चुके हैं, जब उर्दू और हिन्दी फिक्शन की बात चलती है तो सबसे पहले प्रेमचंद की बा-वक़ार बुलद व बाला शख्सियत हमारे सामने उभरतो है। वह अब भी इन दोनों ज़बानों के फिक्शन में सबसे क़द्दावर हस्ती हैं।

प्रेमचंद की हिन्दोस्तानी अदब को देन सिर्फ इतनी हो नहीं कि उन्होंने बहुत लिखा, बल्कि मेरे ख्याल में उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने बड़े ख़ुलूस और बड़ो ईमानदारी के साथ लिखा। आज़ादी से पहले के हिन्दोस्तानी देहातों की जो हकीकत पसंद और भरपूर अक्कासी उन्होंने अपने अफसानों और नावलों में की है—उसकी मिसाल अब भी नहीं मिलती। प्रेमचंद का बचपन और लड़कपन देहातों में ही गुज़रा। उनकी तरबीयत और तहज़ीब इन्हीं देहातों में हुई। यह वह ज़माना था जब देहातों में बड़े ज़ोरों की लूट-खसूट हो रही थी। बरतानवी राज के तहत आयद करदा एक जागीरदारी निज़ाम और उसके चलाने वालों की एक ज़ालिम और जाबर फौज देहातों को दो-दो हाथों से लूट रही थी। भूख, बेकारी, तोहम-परस्ती और बीमारी का दौर-दौरा था। किसान से उसकी ज़िन्दा रहने की तमन्ना, इज़्ज़त और आबरू के साथ दो वक्त की रोटी कमाने की आरज़ू और अपने बच्चों का मुस्तकबिल संवारने की ख्वाहिश पर दिन-दहाड़े शब-खून[३] मारा जा रहा था। प्रेमचंद का हस्सास दिल और उसकी आत्मा इंसान के हाथों इंसान पर टूटने वाले इन मज़ालिम पर तड़पतो थी। लेकिन इंसान के वक़ार और उसकी ज़िन्दा रहने की अज़ली कशमकश की फतह पर उसे पूरा भरोसा था। प्रेमचंद ने देहाती पस-मंज़र में जो भी लिखा उसमें उनकी बेपनाह इंसान-दोस्ती और रजाइयत का पूरा-पूरा इज़हार होता है। मुस्तकबिल पर ईमान के तुफ़ैल ही उन्होंने अपन सारे अदब की तख़लीक़ की। उम्मीद का दामन कभी हाथ से जाने नहीं दिया। और इस तरह उन्होंने हिन्दोस्तानी अदब में एक लाज़वाल और अबदी इज़ाफ़ा किया।

प्रेमचंद एक हिन्दु घराने में पैदा हुए थे और उन सारी रिवायात और रस्मो-रिवाज के वारिस थे जो हिन्दू समाज ने उनके माहौल को बख्शे थे। लेकिन इसके

---

३. निशाक्रमण

बावजूद वह मजहब के नाम पर की जाने वाली किसी भी ज्यादती के कट्टर मुखालिफ़ थे। उन्हें दिखावे के मजहब और 'रिचुयल्स' से भी चिढ़ थी। वह मज़हब-परस्त होने के बावजूद निहायत आज़ाद-ख्याल इंसान थे। अगर ऐसा न होता तो प्रेमचंद के कई अफ़साने और ड्रामे शायद तख़लीक़ ही नहीं हुए होते। उन्होंने इस्लामी तवारीख, इस्लामी मुआशिरे से मुत्तासिर होकर कई चीज़ें लिखीं जिनमें बड़े ख़ुलूस और ईमानदारी के साथ एक अज़ीम और बेमिसाल अदीब के फर्ज़ को पूरी तरह से निभाया है। उनके ड्रामे 'कर्बला' की इशायत पर बाज़ अफ़राद की तरफ़ से प्रेमचंद पर कीचड़ भी उछालने की कोशिश की गई लेकिन आखिरकार प्रेमचंद के ख़ुलूस और ईमानदारी की फ़तह हुई। प्रेमचंद न सिर्फ मज़हब के तआस्सुब से बालातर थे वह लसानी अस्बियत से भी बहुत परे थे। यही वजह है कि उनका तख़लीक़कर्दा अदब एक 'सेक्यूलर करेक्टर' का हामिल है। इतना ही नहीं, प्रेमचंद ने बयक-वक्त दोनों ज़बानों यानी उर्दू और हिन्दी में लिखा। और उनकी उर्दू और हिन्दी एक दूसरे से इस क़दर क़रीब हैं कि रस्म-उल-ख़त के फर्क के इलावा इल्फाज़ में बहुत कम फ़र्क नज़र आता है। प्रेमचंद का यह भी एक कारनामा था कि वह उन दोनों ज़बानों को एक दूसरे के क़रीब लाकर एक आम-फ़हम और काबिले-कुबूल हिन्दोस्तानी ज़बान की आबयारी करने की आरज़ू कर रहे थे।

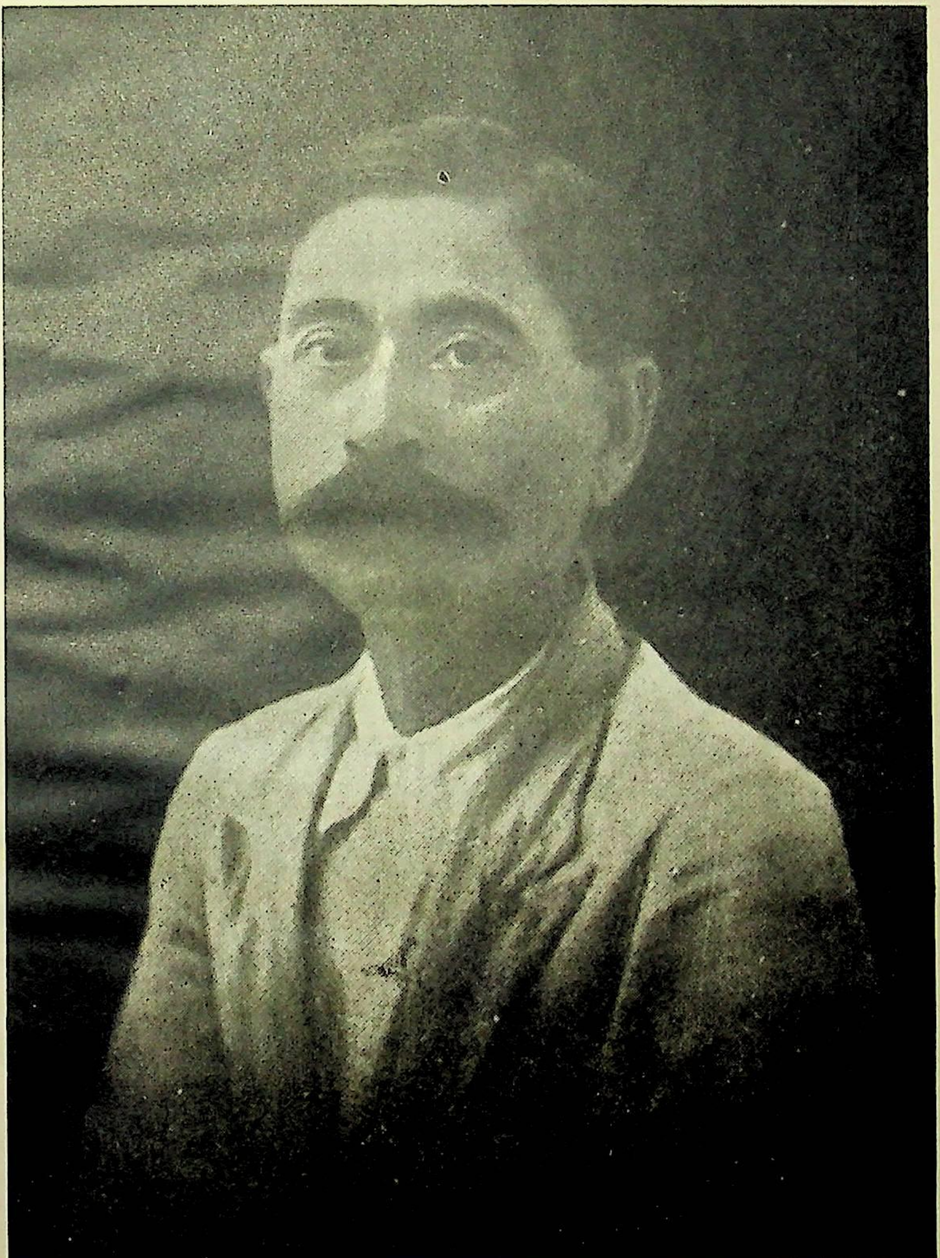
तीसरी बात जो प्रेमचंद के बारे में बड़े फ़ख्र के साथ कही जा सकती है, यह है कि उन्होंने जबर्दस्त माली मुशकिलात, सरकारी अकाब और रोज़-ब-रोज़ गिरती हुई सेहत के बावजूद अपने कलम को हाथ से नहीं छोड़ा। उनके अफ़सानों का पहला ही मज्मुआ, "सोज़े-वतन", ब्रिटिश सरकार के अकाब का शिकार होकर जला डाला गया। लेकिन यह मामूली से सरकार-मुलाज़िम इससे कम-हिम्मत नहीं हुए। धनपत राय से मुंशी प्रेमचंद का कलमी नाम अख्तियार किया और अपने उन जज़्बात और तआस्सुरात को अपने अदब में ज़ुबान दी, जो उस वक्त की सरकार की नज़रों में बगावत नहीं तो मुखालिफ़त जरूर समझी जाती थी। प्रेमचंद पर एक बड़े घर की ज़िम्मेदारियां आयद थीं इसलिए वह नौकरी करने पर मजबूर थे। लेकिन उनकी यह मजबूरी उनके इरादों और ईमान को कभी मुतज़लज़िल न कर सकी। वह निडर होकर लिखते गये और आखिरी उम्र तक इस मक़सद से पीछे नहीं हटे।

प्रेमचंद ने, ग़ालिबन, पहली बार एक कुल हिन्द अदबी अकादमी का तसव्वुर पेश किया। वह चाहते थे कि हिन्दोस्तान की मुरव्विज़ा ज़बानों का अदब तर्जुमों के ज़रिये एक दूसरे से मुतआरुफ हो जाये। इस सिलसिले में उन्होंने कुछ अमली इक़दाम भी किए। अपना हिन्दी रसाला 'हंस' इसके लिए वक्फ भी कर दिया।

उनकी ज़िन्दगी में उनका यह ख्वाब शर्मिंदा-ए-ताबीर तो नहीं हो सका, लेकिन आज़ादी के बाद इस ज़िम्न में बहुत कुछ किया जाने लगा है। प्रेमचंद चाहते थे कि सही मानों में एक हिन्दोस्तानी अदब की तख़लीक़ाती दाग़-बेल डाल दी जाये। और इसके लिए उन्होंने अकादमी का तसव्वुर पेश किया ताकि मुख्तलिफ़ ज़बानों के अदीब और शायर और दूसरे कलमकार एक प्लेटफार्म पर जमा हों और इस मकसद की तकमील के लिए काम करें।

प्रेमचंद सिर्फ एक अदीब ही नहीं थे बल्कि एक सच्चे वतन-परस्त इंसान भी थे। वह हर उस कोशिश का जज़्बाती तौर पर साथ देते थे जो मुल्क को विदेशियों को गुलामी से नजात दिलाने के लिए की जाती थी। चुनांचे प्रेमचंद महात्मा गांधी की तहरीक़ से बेहद मुत्तासिर हुए। सरकारी नौकरी छोड़ दी और अपनी तख़लीक़ात के जरिए उन्होंने आज़ादी के मिशन को आम लोगों तक पहुंचाने की कोशिश की।

प्रेमचंद की गोना-गूं और हमा-जेहत शख्सियत और उनके तख़लीक़ कर्दा अदब पर तो बहुत कुछ कहा जा सकता है लेकिन इख्तिसार के साथ मुझे आखिर में यह अर्ज करने दीजिए कि आप प्रेमचंद के वारिस हैं। उन्होंने आपके लिए एक बेशकीमत विरसा छोड़ा है। आप इस विरसे की कद्र करते हैं। प्रेमचंद की सौवीं सालगिरह पर तकरीबें मना रहे हैं और उनकी याद को दिलों में ताज़ा करने की कोशिश कर रहे हैं। मैं चाहूँगा कि प्रेमचंद के अदबी विरसे के साथ-साथ आप प्रेमचंद की बख़ी ज़िन्दगी से भी बहुत कुछ हासिल करें। उन्होंने बड़ी जद्दो-जहद की। बड़ी तकलीफें उठाईं लेकिन ख़ुलूस और इंसान-दोस्ती का दामन कभी हाथ से जाने नहीं दिया। प्रेमचंद के वारिसों को प्रेमचंद की इन खसूसियात से भी प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि ऐसा करने से ही हम उनके तईं अपनी अकीदत और एहसानमंदी का मुनासिब और भरपूर इज़हार कर सकते हैं।



प्रेमचंद—१९२४



जापानी चित्रकार द्वारा ८ मार्च, १९३६ को बनाया गया चित्र

प्रेमचंद की विरासत

प्रेमचंद की परंपरा

—श्यामाचरण दुबे

प्रेमचंद ने हिन्दी कथा साहित्य को एक नया मोड़ दिया और अपनी उपलब्धियों से उसे प्रगति की नई मंजिलों तक पहुंचाया। वे कथाशिल्प के आविष्कारक तो नहीं थे किन्तु हिन्दी में उपन्यास और लघुकथा की अल्पविकसित विधाओं को सबल करने में उनका योगदान महत्वपूर्ण था। कहानियां उनके पहले भी लिखी जाती थीं और छोटे-बड़े उपन्यास भी। कहानियां मुख्यतः घटना प्रधान होती थीं और एक फार्मूले के अनुसार उनमें नायक और नायिका का चरित्र बहुत उभार कर चित्रित किया जाता था। उनके लिए बहुत उजले रंगों का प्रयोग होता था; खलनायक और खलनायिका, इसके विपरीत, गहरे काले रंग में चित्रित किये जाते थे। कथानक की परिणति पूर्वानुमानित होती थी—सत्य की असत्य पर, बुराई की अच्छाई पर अंत में विजय होती थी। अनेक कहानियों में देशभक्ति और आदर्शवाद की प्रमुखता होती थी और इनमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता था कि प्राचीन भारतीय संस्कृति अपराजेय है। कहानियों का एक और अन्दाज़ भी था जिसमें समाज सुधार पर ज़ोर था। बालविवाह, अनमेल विवाह, विधवा विवाह, दहेज़, सती, देवदासी आदि की समस्याओं पर कथानक गढ़े जाते थे और कथा के परिणाम में एक स्पष्ट शिक्षा अन्तर्निहित होती थी। रोमानी कहानियों का आरम्भ हो चुका था और सतही तौर पर प्रेम के इन्द्रधनुषी रंग कहानियों में भरे जाते थे। बाहर से आई उपन्यास की विधा लोकप्रिय हो रही थी, किन्तु भारत के समसामयिक यथार्थ में उसकी जड़ें न गहराई में जा सकी थीं और न फैल सकी थीं। सच तो यह है कि उपन्यास पूरी तरह भारतीय परिवेश और उसकी भावभूमि से अपने आपको नहीं जोड़ सके थे। बड़े-बड़े उपन्यास लिखे गये अथवा उनके अनुवाद हुए और उन्हें पर्याप्त लोकप्रियता भी मिली, परन्तु इनमें से अधिकांश का भारतीय समाज और उसमें होने वाले परिवर्तनों से कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। **चन्द्रकान्ता** की सफलता ने **चन्द्रकान्ता संतति**" के लेखन को प्रेरित किया। **भूतनाथ** का अपना रंग था। ये वयस्कों के उपन्यास थे और बच्चों और स्त्रियों की पहुंच से बाहर रखने के लिए उन्हें सामान्यतः ताले में बन्द रखा

जाता था। ऐयारी और तिलस्म की अद्भुत ऐन्द्रजालिक घटनाओं से ओतप्रोत इन उपन्यासों में किसी भी प्रकार की अश्लीलता नहीं थी। सच तो यह है कि वे किसी भी देश या समाज के यथार्थ को चित्रित नहीं करते थे; वे पूरी तरह इन्द्रजाल के एक काल्पनिक किन्तु रोचक वातावरण का निर्माण भर करते थे। **लन्दन रहस्य** जैसे अनुवादित उपन्यासों में राज दरबार में होने वाले छोटे-बड़े षड़यन्त्रों और गुप्त प्रेम-व्यापारों का वर्णन मिलता था। कहानियों की भांति कुछ उपन्यासों में भी देशप्रेम, संस्कृति भक्ति, और समाज सुधार के तेवर उभरकर आते थे, किन्तु उनमें भारतीय समाज के मूल तत्त्वों अथवा तत्कालीन समस्याओं की सूक्ष्म पकड़ शायद ही कहीं झलकती थी। प्रेमचंद युग में स्थिति बड़ी तीव्रता से बदली। हिन्दी कहानी और उपन्यास भारतीय परिवेश के निकट आए और उनके शिल्प में निखार आया।

एक लेखकीय जीवन के लिए प्रेमचंद ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु वे यदि सिर्फ **गोदान** और ग्रामीण जीवन सम्बन्धी आठ-दस कहानियों से अधिक कुछ न लिखते तो भी हिन्दी साहित्य में एक युगप्रवर्तक के रूप में सम्मानित होते। होरी, धनिया और गोबर जैसे पात्रों का निर्माण कर उन्होंने भारत के सामान्य ग्रामीण जन को हिन्दी कथा साहित्य में प्रतिष्ठित किया। कथानक में ठीक बैठाने के लिए इन चरित्रों में कोई तोड़-मरोड़ नहीं की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि सीधे जीवन से उठाकर उन्हें उपन्यास के पृष्ठों में रख दिया हो। इन पात्रों में गांव का रंग है, मिट्टी की गन्ध है। उनकी भावनाओं और शब्दों में जनमानस मुखरित होता है। **गोदान** कल्पना की ऊंची उड़ानों की सृष्टि नहीं है; इसके पात्रों में न असम्भव को सम्भव करने की क्षमता है और न कोई अलौकिक शक्ति। इसके पात्र हाड़-मांस के बने सामान्य जन हैं, जिनकी ज़िन्दगी में भूख का अभिशाप है, महाजन का शोषण है, ज़मींदार का उत्पीड़न है। उनके दर्द और उदासी भरे जीवन में सन्तोष के क्षण भी आते हैं और मुस्कुराहट की किरणें भी। यह है भारत का सामाजिक परिवेश—जीता यथार्थ—जो थोड़े से चरित्रों के माध्यम से पूरे कथानक में विस्तारित हो गया है। कुछ आलोचक कहते हैं कि प्रेमचंद नगरीय जीवन और उसकी उलझनों को उतना नहीं समझ पाए जितना वे ग्रामीण जीवन को समझे थे। आंशिक रूप से यह आलोचना सही है, पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस कालखण्ड का वर्णन प्रेमचंद ने किया है उसमें ग्रामीण और नगरीय जीवन का अन्तर्विरोध उतना स्पष्ट नहीं हुआ था जितना वह आज है। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि प्रोफेसर मेहता और मालती के चरित्रों में जीवन का वह स्पन्दन नहीं है जो हमें होरी और धनिया के चरित्रों में मिलता है। व्यापक ग्रामीण परिवेश को अपने कथा जगत में समेटने में जहां प्रेमचंद को आश्चर्यजनक सफलता मिली, वहां यह भी कहना आवश्यक है कि वे अपने आपको पूरी तरह अपने समय की साहित्यिक परम्पराओं से असम्पृक्त नहीं कर सके। गांधीवादी प्रभाव उनकी रचनाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है। आदर्शवाद और समाजसुधार की गहरी छाप भी उनकी कृतियों में है। यह उनके रचनाशिल्प की सफलता है कि उनका आदर्शवाद जीवन

के सन्दर्भों से कटा हुआ प्रतीत नहीं होता और चुभता नहीं है । ग्रामीण पात्रों के प्रति प्रेमचंद में सहज परानुभूति थी और वे उनके मनोभावों को बड़ी सादगी से अपनी कथाओं में उतार सकते थे । यह लेखकीय और मनोवैज्ञानिक क्षमता उनके समकालीन लेखकों में इस मात्रा में नहीं थी । प्रेमचंद के जीवन काल में और उनकी मृत्यु के कुछ वर्षों बाद तक उनके अनुकरण के अनेक प्रयत्न हुए किन्तु कोई अन्य लेखक उनके समकक्ष नहीं हो पाया ।

प्रेमचंद ने भारतीय ग्रामीण जीवन के रचनात्मक चित्रण की जो परम्परा आरम्भ की थी वह उनकी मृत्यु के बाद कुछ शिथिल हो गई । कुछ अच्छे उपन्यास लिखे गये किन्तु उनकी प्रेरणा का स्रोत या तो प्राचीन भारत की गौरवपूर्ण सभ्यता में था या वे इतिहास के पृष्ठों से अनुप्राणित थे । साथ ही नगरीय परिवेश से सम्बद्ध उपन्यासों और कहानियों की रचना भी हुई । ग्रामीण जीवन पर लिखे गए उपन्यास और कहानियां प्रायः सतह को ही छूते थे और वे पाठक के मन पर अपनी प्रामाणिकता की कोई स्थायी छाप नहीं छोड़ते थे । कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि ये रचनाएं यान्त्रिक हैं ; उनके आंसू और दर्द दोनों झूठे हैं ।

प्रेमचंद की परंपरा को सच्चे अर्थों में आंचलिक उपन्यासों और कहानियों ने आगे बढ़ाया । कुछ सशक्त लेखक इस विधा के माध्यम से भारतीयता की तलाश में अग्रसर हुए । वे देश के ग्रामीण जीवन से निकट से परिचित थे और उनका कथाशिल्प नये रूप ग्रहण कर सकने में समर्थ था । **मैला आंचल** और **परती परिकथा** आंचलिकता के आन्दोलन की आरम्भिक किन्तु सफल रचनाएं थीं । यह रेणु की लेखनी का चमत्कार था कि उनकी इन कृतियों में ग्रामीण वातावरण सजीव हो सका । लोक भाषा और ग्रामीणों के विशिष्ट मुहावरे का प्रयोग उन्होंने ऐसी शैली में किया कि बिहार के गांवों की आकृतियां और ध्वनियां दोनों एक साथ उनकी रचनाओं में उतर आईं । बातचीत की अनगढ़ शैली उनके पात्रों की ग्राम्यता को उभार कर सामने लाती है । ऐसा किसी भी पात्र के सम्बन्ध में प्रतीत नहीं होता कि ग्रामीणों की वेशभूषा में आधुनिकता से प्रभावित शहर का कोई व्यक्ति बोल रहा हो । उनका कथानक अनेक लघु घटना खण्डों में विभाजित होता है, जिनमें से प्रत्येक में ग्रामीण जीवन के किसी पहलू की झलकियां मिलती हैं । कथानक और शैली दोनों की दृष्टि से रेणु ने कथाशिल्प को प्रेमचंद से आगे बढ़ाया है । उनके हर पृष्ठ में यह आभास होता है कि लेखक स्वयं गांव का है और ग्रामीणों के हृदयों की धड़कन को भलीभांति समझता है । फिर भी लेखक में एक अजीब तटस्थता भी हमें मिलती है । न तो वह ग्रामीणों की दुर्दशा पर छाती पीटता और आंसू बहाता है और न सच्ची या झूठी क्रान्ति के नारे ही लगाता है । आक्रोश का दबा स्वर उसकी रचनाओं में अन्तर्निहित है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह प्रत्यक्ष उत्तेजना के मुहावरे का प्रयोग नहीं करता । उसकी रचनाए मन पर प्रभाव छोड़ती हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से । आंचलिकता के आन्दोलन ने बहुसंख्य रचनाओं को प्रेरित किया । इनमें से कई खींचतान कर आंचलिकता के ढांचे में ढाली गई थीं । आदिवासी नाम, उनके तेवहारों और नृत्यों का उल्लेख अपने आप में किसी रचना को सही आंचलिकता नहीं देते ।

ग्रामीण जीवन के चित्रण में इससे कहीं अधिक सफलता लेखकों को मिली है, पर उनकी रचनाओं में असली और नकली का फ़र्क तो देखा ही जा सकता है।

आंचलिकता से हट कर भी भारत के ग्रामीण जीवन पर कुछ बहुत ही सशक्त उपन्यास लिखे गये हैं। यहां केवल तीन का उल्लेख किया जायेगा जो अपनी रचना शैली में अनूठे हैं और बदलते भारतीय ग्रामों के अनेक आयामों को अंकित करने में सफल ए हैं।

श्रीलाल शुक्ल का **राग दरबारी** एक साफ और सुथरा उपन्यास है। यह रचना पूरी तरह पूर्वाग्रह मुक्त है। लेखक ने तटस्थ भाव से एक भारतीय गांव के बदलते परिवेश को चित्रित किया है। प्रेमचंद की तरह लेखक ने आदर्शवाद का स्वर कहीं भी तेज नहीं किया है। समस्याएं उठाई गई हैं, पर कथानक में वे बड़े स्वाभाविक ढंग से आई हैं और कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता कि लेखक समाज सुधार के लिए कटिबद्ध है। परिष्कृत शैली और हास्य का पुट पुस्तक की पठनीयता को बढ़ाते हैं। उनके रचना-तन्त्र में न रेणु की तरह उलझाव हैं, न पाठक को चमत्कृत करने का प्रयत्न ही। रेणु की भाषा और उनके सवाद सामान्य पाठक को कभी-कभी उसकी रचना के प्रति उदासीन कर सकते हैं। इसके विपरीत, **राग दरबारी** सरल हिन्दी में लिखी गई है। लोक भाषा के शब्द और मुहावरे यदा-कदा आए हैं, पर शैली चमत्कार के लिए नहीं अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए। लेखक को गांव के आदर्श के प्रति कोई मोह नहीं है और वह उसकी विसंगतियों और विकृतियों का वर्णन भी बड़े निर्भीक ढंग से करता है। आज के गांव की दलबन्दी और सत्ता की राजनीति, ग्राम पंचायत और सहकारी समिति के काम में तरह तरह की हेरा-फेरी, और अधिकारियों का भ्रष्टाचार—इन सब को कथानक में पिरोया गया है। साथ ही उन तत्वों का भी विश्लेषण है जो गांव को एक जीवित समुदाय का रूप देते हैं। गांव के प्रति लेखक में एक सहज सहानुभूति है। पूरी पुस्तक पढ़ लेने के बाद भी पाठक को उनसे वितृष्णा नहीं होती, स्नेह ही होता है। भारत के बदलते गांवों को समझने के लिए **राग दरबारी** पाण्डित्य पीड़ित अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययनों से कहीं अधिक उपयोगी है।

राही मासूम रज़ा हिन्दी में एक तूफान की तरह आए। उनका मुहावरा हिन्दी के लिए अपरिचित सा है और उनकी अनगढ़ शैली यदि एक बार चौंकाती है तो दूसरी बार आकर्षित भी करती है। **आधा गांव** उनकी विशिष्ट रचना है, यद्यपि उनकी दूसरी कई किताबों में भी आंशिक रूप में गांव आते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर जिले में गंगौली एक मध्यम आकार का गांव है जिसमें हिन्दू भी बसते हैं, मुसलमान भी। **आधा गांव** उपन्यास की शक्ल में गंगौली और उसके निवासियों की कहानी है, जहां परम्पराएं अभी भी जीवित हैं पर माहौल बड़ी तेज़ी से बदल रहा है। राही की भाषा बोलचाल की भाषा है। गांव के हर तबके से पात्र उन्होंने चुने हैं और उनका चित्रण करने में उन्हें एक सी सफलता मिली है। यहां भी भारतीयता की तलाश है, साथ ही जड़ों की खोज भी है। जनजीवन के दुःख-दर्द की इस

कहानी में झूठी मान-मर्यादाओं का चित्रण भी हुआ है। शायद ही किसी उपन्यासकार ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों को उनके परिवेश से जोड़कर इतनी सफलता से प्रस्तुत किया हो। राही कभी-कभी अपनी तटस्थता खो बैठते हैं पर उनकी टिप्पणियां बड़ी चुभती हुई होती हैं। राही का स्वर अपना है, भाषा अपनी है, शैली अपनी है।

जिन्दगीनामा एक असाधारण लेखिका की असाधारण रचना है। पुस्तक का पहला भाग अभी छपा है, दूसरे भाग की प्रतीक्षा है। एक भूखण्ड और कालखण्ड पर केन्द्रित यह कृति एक दृष्टि से उपन्यास है, दूसरी दृष्टि से नहीं। यह इतिहास है, समाज विज्ञान है और साहित्य भी है। नायक और नायिका विहीन इस रचना में अनेक पात्र आते हैं और समय पटल पर अपनी हल्की या गहरी लकीरें छोड़ जाते हैं। **जिन्दगीनामा** को पढ़ने का विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। गांव की पंजाबी भाषा का प्रयोग कभी कभी पाठक को उबा देता है। कथानक के विकास में पाया जाने वाला बिखराव भी पाठकों को जकड़ता नहीं है। **जिन्दगीनामा** की ये कमज़ोरियां एक दृष्टि से उसकी शक्ति हैं। भाषा से उसका वातावरण बना है। सामाजिक दूरी और तनाव भाषा के रूप से स्पष्ट हुए हैं। भाषा में आने वाला बदलाव कालांतर में धर्म और वर्ग के आधार पर होने वाले संघर्ष की ओर इशारा करता है। पुस्तक में व्यवहृत मुहावरा केवल भाषा का अंग नहीं है, अनेक अर्थों में संस्कृति का मुहावरा है। यदि पुस्तक का स्थानीय रंग प्रामाणिक प्रतीत होता है तो केवल उसकी भाषा और संवादों के लहज़े से। जेहलम और चिनाब के बीच के क्षेत्र में बिखरी ग्रामीण संस्कृति यदि अपनी समग्रता में भी स्वर पा सकी है तो घटनाओं के बिखराव के कारण। पुस्तक सामान्य उपन्यास की कोटि से उठकर यदि एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दस्तावेज़ बन सकी है तो इसलिए कि लेखिका ने अपने आरभिक समाजीकरण में जिस परिवेश को आत्मसात कर लिया था उसे जैसा का तैसा काग़ज़ पर उतार सकने की क्षमता भी उसके पास है, शिल्प भी। यह निश्चित है कि **जिन्दगीनामा** बहुत लोकप्रिय नहीं होगी, पर यह भी उतना ही निश्चित है कि यह एक लंबे समय तक भुलाई नहीं जा सकेगी।

प्रेमचंद एक प्रतिबद्ध लेखक थे। उन्हें भारतीयता की तलाश थी। रचना कर्म में किसी भी तरह की बेईमानी उन्हें सह्य नहीं थी। यही उनका जीवन दर्शन था, यही उनकी वसीयत थी। इन पृष्ठों में चर्चित उपन्यासकारों को यदि वे पढ़ सकते तो उन्हें प्रसन्नता होती कि प्रतिबद्ध लेखन का युग अभी समाप्त नहीं हुआ। प्रेमचंद ने जो तलाश शुरू की थी अब भी चल रही है। लेखक रचना-धर्म के प्रति आज भी ईमानदार है। कथ्य और शिल्प के जो प्रतिमान इन लेखकों ने विकसित किए हैं वे प्रेमचंद की परंपरा को सशक्त करते हैं, आगे बढ़ाते हैं।

●

व्यथा कहो मालती !

—डॉ ओम प्रकाश गुप्त

प्रेमचंद एक ऐसे कगार पर खड़े थे जिसके एक तरफ नयी सभ्यता की लहरें ठोस धरती को काटे जा रही थीं और दूसरी तरफ प्राचीन परम्पराओं की जड़ें फिसलती-टूटती-घुलती मिट्टी को बचाने की भरसक कोशिश कर रही थीं। रूढ़ियों पर आर्य समाज ने कठोर पदाघात किये थे लेकिन समूचे अतीत को केंचुल की तरह उतार फेंकना स्वामी दयानन्द के चिन्तन में शामिल नहीं था। गांधी की सारी चिन्तनधारा भी बहुत हद तक इसी सीमा के भीतर घूम-फिर रही थी। उन्हें सुधार अपेक्षित था ; आमूल परिवर्तन के वे हामी नहीं थे। स्वामी दयानन्द जहां वेद की धुरी थामे रहे, वहीं गांधी संस्कृति के नये प्रस्थान को राम और कृष्ण के नामों से जोड़ रखना चाहते थे। प्रेमचंद की विचार-प्रक्रिया के मूल में न तो दयानन्द की तरह सांसारिक कष्टों से छुटकारा प्राप्त करने की चाह थी, न ही उनमें गांधी की तरह मानव-अधिकारों को प्राप्त करने की तमन्ना का वह रूप था जिसने गांधी जी को राजनीति के क्षेत्र में ला पटका था। वे दोनों आर्थिक समस्याओं से उस प्रकार जूझे ही नहीं थे जिस प्रकार का जूझना नवाबराय या प्रेमचद की अनिवार्य नियति थी। तो भी आदर्शों, परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति प्रेमचंद का रवैया पूरी तरह दयानंदी या गांधीवादी पद्धति का था।

प्रेमचद शुरू से आखिर तक एक क्राइसिस में जिए, हर धरातल पर अनिश्चय उनके कृतित्व का अभिन्न अंग है। प्रेमचन्द की निर्मला तोताराम को उसी तरह पति स्वीकार कर लेती है जिस तरह एक सामान्य कम पढ़ी लिखी या अनपढ़ हिन्दोस्तानी औरत स्वीकार करती है। बुढ़ऊ पति के नखरे देखकर, उसका अन्याय देखकर भी प्रेमचन्द की निर्मला यह कह कर रुक जाती है—"वह बुड्ढे हों या रोगी पर हैं तो उसके स्वामी ही। कुलवती स्त्रियां पति की निंदा नहीं करतीं, यह कुलटाओं का काम है।" **सेवासदन** की सुमन–गजाधर की जोड़ी में वे सारी सभावनाएं हैं जो सुमन को विवाह, प्रेम, पतिव्रत से जुड़ी सभी मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए मजबूर कर देती हैं लेकिन प्रेमचंद के अन्तर ने पहले ही एक चौखटा तैयार कर लिया है। यही कारण है कि प्रेमचंद सुमन-सदन प्रेम-प्रसग को विकसित नहीं होने देते। उनके मन में जो नैतिक मापदण्ड हैं, वे सुमन की सदन के प्रति खुले आम

अनुरक्ति सहन नहीं कर सकते। **रंगभूमि** की इंदु को उसकी मां पतिव्रत के संस्कार पिलाती रही और सोफ़िया जन्मतः ईसाई होकर भी हिन्दू संस्कारों की लड़की है। क्लार्क की पत्नी के रूप में रखकर भी प्रेमचंद शारीरिक पवित्रता की दृष्टि से उसे उसी तरह बचा लेते हैं जिस तरह सुमन को वेश्या बाज़ार में रख कर भी उसके सतीत्व की रक्षा कर लेते हैं।

प्रेमचद के उपन्यासों की नारियां स्वयं में चरित्र हैं हो नहीं। प्रेमचंद इन पात्रों के माध्यम से व्यक्ति नहीं नारी-शिक्षा का समूचा स्कूल प्रस्तुत करते हैं। **गोदान** कई नजरियों से बहुत प्रगतिवादी उपन्यास है। इस उपन्यास को प्रेमचद के विचारों एवं कला की गवाही के लिए प्रामाणिक दस्तावेज़ माना जाता है। इसीलिए आधुनिक युवती के चरित्र की दृष्टि से **मालती** का विशेष महत्त्व है। मालती एक ऐसी आधुनिका है जिस से हिन्दी-उपन्यास में आधुनिकाओं का एक अबाध दौर शुरू होता है और शुरू होता है विवाह, प्रेम, सेक्स, मुक्तभोग जैसे प्रश्नों पर खुला विचार-विमर्श। मालती हर तरह से, हर तरफ़ से आधुनिका है—एक मॉड गर्ल है। प्रेमचंद उसका परिचय यूं देते हैं—"आप नवयुग की साक्षात प्रतिमा हैं। गात कोमल पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं। मेकअप में प्रवीण, बला की हाज़िर जवाब, पुरुष मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण।" मालती के आरंभिक परिचय में हमें वे सारे तत्त्व मिल जाते हैं जो आज की युवती को सेक्स-सिम्बल बना देते हैं। जिस आत्मविश्वास के साथ वह मंच पर आती है, उससे पता चलता है कि एक सहज, स्वाभाविक चरित्र उपन्यास में आ पहुंचा है। धनिया और झुनिया जैसे नारी-पात्र भी गोदान में हैं लेकिन शहरी आधुनिका मालती के माध्यम से प्रेमचंद नये युग की पढ़ी-लिखी भारतीय नारी की समस्याएं प्रस्तुत करेंगे, ऐसा विश्वास हमें मालती के चरित्र द्वारा प्राप्त होने लगता है। जल्दी ही हमें यह भी विदित होता है कि प्रेमचंद मालती के चरित्र को एक मोड़ देने का उपक्रम कर चुके हैं। मालती के साथ ही साथ प्रेमचंद अपने स्पोक्समैन प्रोफ़ेसर मेहता को धनुष यज्ञ में भेज देते हैं। यहीं पठान के उद्दीप्त नयन देखकर मालती के मन में जो भावनाएं उठती हैं, उन्हें सीधे ढंग से यूं व्यक्त किया जा सकता है—'काश! यह 'ही-मैन' मुझे किडनैप करके ले जाए'। जल्दी ही भेद खुल जाता है कि यह 'ही-मैन' प्रोफ़ेसर मेहता है जिसके बारे में प्रेमचंद स्वयं कहते हैं कि औरतों की महफ़िल में उसकी घिग्गी बंध जाती है। इस मेहता का शरीर किसी अखाड़ेबाज़ पहलवान से कम मस्क्यूलर नहीं है, उसका वेश विन्यास बहुत आकर्षक और सामन्तीय किस्म का है, वह बला का विद्वान और वक्ता है, उसे मोटी तनखा मिलती है, वह प्रोफ़ेसर ही नहीं अच्छा शिकारी भी है। वह चिड़िया का शिकार तो करता ही है, मालती के दिल का भी शिकार कर लेता है। स्पष्ट है कि मेहता को इस उच्च आसन पर पहुंचाए बिना प्रेमचंद उसके मुख से फ़तवे सादिर नहीं करवा सकते थे, मालती को हीन घोषित नहीं करवा सकते थे। मेहता प्रेम नहीं करता, मालती के चरित्र का विश्लेषण करता है; यह बात मालती को काफ़ी कचोटती है। मेहता कदम-कदम पर

मालती की परीक्षा लेता है और एक स्थल पर घोषणा करता है—"मिस मालती हसीन हैं, खुशमिज़ाज हैं, रौशन ख़याल हैं…लेकिन मैं अपनी जीवन-संगिनी में जो बात चाहता हूं, वह उनमें नहीं है, और न शायद हो सकती है।" प्रेमचंद की मालती हसीन तो थी ही, मेहता के सामने वह अज़हद कमसिन भी साबित होती है। मालती जो साहस के साथ परिवार का बोझ उठा रही है, कई तरह के लोगों से कई मोर्चों पर जूझ रही है, मेहता के सामने अबला बना दी गई है। अपने सारे आत्मविश्वास और अहं के बावजूद वह महसूस करती है कि नारी की रक्षा के लिए पुरुष का सहारा अशद ज़रूरी है। मेहता रोमांटिक हरक्यूलियन अंदाज़ में कहता है—"ऐसा ही (कठिनाई का) कोई अवसर आए, मुझे बुला लेना।" वह एक ऐसी औरत चाहता है जिसके साथ वह वनसाइडिड डायलाग कर सके। अगर मेहता अपने इस दावे पर ईमानदार होता कि "मेरी पत्नी किसी से प्रेम करे तो मैं उसे गोली मार दूंगा और यही अधिकार मैं पत्नी को भी दूंगा", तो वह गोविन्दी को घर की महिमा बता कर पति-सेवा के लिए वापिस कदापि न भेजता। प्रेमचंद और उनके प्रोफ़ेसर मेहता के ज़ेहन में "औरत वफ़ा और त्याग की मूर्ति है जो अपनी बेज़ुबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का अंश बन जाती है।" टालस्टाइन मुहावरे में बात करता मेहता ज़ोर देकर कहता है—"मैं वह भोजन चाहता हूं जिससे आत्मा की तृप्ति हो, उत्तेजक और शोषक पदार्थों की मुझे ज़रूरत नहीं।" 'वुमेन लीग' में दिया गया उसका समूचा भाषण नारी को प्राचीन आदर्शों और परम्पराओं से बंधे रहने का, आम तर्कों से बुना, एक लम्बा उपदेश है। यहीं मेहता का एक अन्य युवती से सामना होता है। वह है मालती की छोटी बहन सरोज। सरोज मन की बात बेबाक तरीके से कहती है। उसके कालेज में मेहता ने फ़रमाया था—"संसार में स्त्रियों का क्षेत्र पुरुषों से बिलकुल अलग है। स्त्रियों का पुरुषों के क्षेत्र में आना इस युग का कलंक है।" उस कालेज में लड़कियों ने मेहता की जो गत बनाई थी उसके कारण उन्हें चुप हो कर बैठ जाना पड़ा था। उस भाषण का सरोज पर तो कुछ प्रभाव आ नहीं था; हां मालती मेहता के प्रति करुणार्द्र हो उठी—प्रेमचंद उसे पहले ही मेहता की ओर आकृष्ट कर चुके थे। मालती मेहता का भाषण सुनने से पहले ही सोच लेती है—"अभी यह कौन जानता है कि स्त्रियां जिस रास्ते पर चलना चाहती हैं, वही सत्य है। बहुत संभव है, आगे चल कर हमें अपनी धारणा बदलनी पड़े।" सरोज को अपनी बड़ी बहन के इस नये भाव-बोध पर आश्चर्यमिश्रित कुतूहल होता है। 'वुमेन लीग' में मेहता के भाषण पर टीका-टिप्पणी शुरू हुई तो मालती ने सभापति-पद से मेज़ पर हाथ पटक कर कहा—"शांत रहो। जो लोग पक्ष या विपक्ष में कुछ कहना चाहेंगे, उन्हें पूरा अवसर दिया जाएगा।" लेकिन भाषण के अन्त में प्रेमचंद कहते हैं—"विषय विवादग्रस्त था और कई महिलाओं ने जवाब देने की अनुमति मांगी मगर देर बहुत हो गई थी। इसलिए मालती ने मेहता को धन्यवाद देकर सभा भंग कर दी।" मालती, जो नारी-स्वातन्त्र्य, मुक्त भोग जैसे प्रश्नों पर सबल जिरह कर सकती थी; जिसके पास आत्मविश्वास, चातुर्य, भाषण कला के

साथ-साथ सौंदर्य का शस्त्र भी था, उसे प्रेमचंद निरीह और मूक बना कर रख देते हैं। इसी भाषण के अन्त पर प्रेमचंद की आदर्श नारी गोविन्दी ने मेहता को भाषण की सफलता पर बधाई दी थी और उपदेश की एक डोज़ भी पिलायी थी—"...भूल जाइए कि नारी श्रेष्ठ है और सारी ज़िम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है...।"

प्रेम और विवाह के बारे में भी मेहता के विचार काफ़ी दुविधापूर्ण हैं। विवाह को वैयक्तिक और सामाजिक उपादेयता की दो अलग कसौटियों पर कसते हुए वह घोषणा करता है—मैं "समाज की दृष्टि से विवाहित जीवन को, व्यक्ति की दृष्टि से अविवाहित जीवन को श्रेष्ठ समझता हूं।" मेहता यह भूल जाता है कि विवाह जैसे मामले में वैयक्तिक और सामाजिक स्तरों को अलगाना बहुत मुश्किल है। एक पुरुष या स्त्री की वैयक्तिक प्रगति सामाजिक प्रगति में बाधक केवल उसी दशा में मानी जाती है जब वह सामाजिक नियम को भंग करके प्राप्त की जाती है। एक स्तर पर (इसी वैयक्तिक उन्नति की फ़िराक में ?) मेहता मालती से विवाह नहीं करना चाहता और जब (सामाजिक उन्नति के लिए !) उसके प्रणय की भीख मांगता है, तो मालती विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर देती है। इसके बाद दोनों के प्रग़ाढ़ आलिंगन से प्रेमचंद इस काण्ड की समाप्ति करते हैं।

विवाह को मेहता एक सामाजिक समझौता मानता है और करार पर दस्तख़त कर देने के बाद दोनों के हाथ काट लेता है इसलिए पतिव्रत प्रेमचंद के नारी-पात्रों का एक अनिवार्य गुण रहा है। वास्तव में प्रेमचंद ने मालती को एक ऑब्जेक्टिव दृष्टि से देखा ही नहीं। इस तितली का इतराना उन्हें कतई पसन्द नहीं लेकिन इस अहंवादिनी को जिस तरह मेहता के सामने दीन बना दिया गया है, जिस तरह उसके रंगीन पंख काट लिए गये हैं, उसे देखकर मालती के प्रति सहानुभूति हो जाना स्वाभाविक है। सही बात तो यह है कि मालती शुरू से सहानुभूति की पात्र है। वह इतराती इसलिए है कि "उसके कर्तव्य का भार कुछ हलका हो जाता है।" फ़ालिज से बिस्तर पर पड़े बाप की जगह बड़ी लड़की को घर संभालने के एवज़ जो कुछ सहना पड़ता है, वह मालती सहती है। "मालती सुबह से पहर रात तक दौड़ती रहती थी" कि घर का गुज़ारा चल सके। लेकिन प्रेमचंद मालती के घर की समस्याओं को नज़रंदाज़ करके उसे राय साहिब के बंगले पर ले जाते हैं और अपने विचारों की अभिव्यक्ति का मोहरा बना डालते हैं। मेहता के प्रति मालती का रोमांटिक आकर्षण इतना जादुई और तिलस्मी है कि मालती का सारा तर्क, उसकी वाचालता, उसका अहं धराशायी हो जाता है। आखिर में वह जब विवाह को सामाजिक दायित्व के वहन के लिए बाधा समझ कर नकार देती है तब भी मेहता के पीछे-पीछे चलने का व्रत लेती है। अपने मां-बाप और परिवार की जिम्मेदारियां मालती पर थीं ही, मेहता के बजट का भार भी मालती संभाल चुकी है। "दोनों एक ही घर में रहते हैं, एक साथ खाते हैं, हंसते हैं, बोलते हैं," लेकिन प्रेम को श्रद्धा में बदल कर प्रेमचंद उन्हें शारीरिक सम्बन्ध से दूर रखते हैं। अब मालती को किस बन्धन से वह मुक्त रखना चाहते हैं, समझ में नहीं आता। प्रेमचंद सरोज और रुद्रपाल के प्रेम-प्रसंग का परिचय

अनायास, अत्यंत नाटकीय ढंग से, सिर्फ़ तब देते हैं जब वे विवाह भी कर चुके हैं। इस प्रेम-कथा के आरंभ और विकास की जितनी मनोरम स्थितियां हो सकती थीं, वे प्रेमचंद प्रस्तुत नहीं करते। स्पष्ट है कि मालती का चरित्र समझाने के लिए सरोज का चरित्र समझाना ज़रूरी है और यहीं प्रेमचंद कन्नी काट जाते हैं। इस प्रकार गोदान में, आधुनिक युवती के रूप में मालती का चरित्र अधूरा है। इसके अतिरिक्त और इसके आगे की कौन-सी भूमियां हो सकती हैं, यह देखने के लिए हमें हिन्दी उपन्यास की सड़क पर आगे चलना पड़ता है। देखना यह भी है कि मालती का अन्तर-बाह्य यदि प्रेमचंद निष्पक्ष होकर चित्रित नहीं कर पाएं तो उनके बाद के साहित्यकार कहां चूके, कहां सफल हुए।

जैनेन्द्र को आंतरिक वृत्तियों का चित्रण करने वाला साहित्यकार कहा जाता है इसलिए आशा थी कि जैनेन्द्र ऐसे नारी पात्रों का निर्माण करेंगे जो मालती की कथा को आगे बढ़ाएंगे। सेक्स सम्बन्धी वर्जनाओं को तोड़ने वाले जैनेन्द्र से इस प्रकार की अपेक्षा और भी स्वाभाविक थी। किन्तु जैनेन्द्र ने नारी को जिन कोणों से देखना शुरू किया वहां बैठने से पहले उन्होंने नारी-मन की परवाह नहीं की। 'प्रेम-हीन सेक्स भी हो सकता है', इस तरह की (दार्शनिक !) सूक्तियों के सहारे नारी-जीवन का यथार्थ और निष्पक्ष चित्रण उनमें मिलना सभव भी नहीं था। रामविलास शर्मा के अनुसार "**सुनीता** हिन्दी कथा साहित्य में एक नयी धारा का सूत्रपात करता है।" सुनीता विवाहित है, उसे अपने पति श्रीकान्त से कोई शिकायत भी नहीं है। लेकिन हरिप्रसन्न के आने पर वह सुनती है—"भाभी, मेरे लिए सब तुम हो !" इस देवर-भाभी वाद का क्लाइमेक्स सुनसान जंगल में आधी रात के वक्त होता है जब सुनीता मानो हरिप्रसन्न के सारे सवालों का जवाब देती हुई कहती है—"तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो। मैंने कभी मना किया ?···मुझे चाहते हो तो मुझे ले लो।" उपर्युक्त संवाद में बिन्दुओं की तह में दबाए गए सारे शब्द फ़िज़ूल और लचर बहानेबाज़ी के परिचायक हैं। शरीर पर से साड़ी उतार कर सुनीता ब्लाउज़ भी अलग रख देती है। अब ब्रा उतारने का धीरज उसमें नहीं है। वह शरीर से चिपकी बाडिस को फाड़ कर उतार फेंकती है। यदि इस नाटकीयता को नारी के चरित्र-चित्रण का माध्यम माना जाए अथवा उसमें किसी प्रकार की आधुनिकता के चिह्न ढूंढे जाएं या फिर स्थिति की सेक्सीयता का विश्लेषण किया जाए तो कहना होगा कि यह नारी के साथ अन्याय, आधुनिकता के साथ एक भद्दा मज़ाक और सेक्स के साथ एक डेलिक्वेंट मन की खिलवाड़ है। ऐसा ही मन सेक्स की इन स्थितियों में उत्तेजित न होने का बहाना करता है। जिन शारीरिक सम्बन्धों को प्रेमचंद 'टेबू' मानते हैं, जैनेन्द्र उस 'टेबू' को तोड़ने में जी-जान से जुट जाते हैं। यहां माउथपीस स्वयं सुनीता है। वह घोषणा करती है : "कह सकते हो विवाह समाज की सृष्टि है। मनुष्य के भीतर प्रकृत रूप से वह नहीं है, लेकिन एक से दो होने की आवश्यकता, जान पड़ता है, मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है। न कहो विवाह, कहो प्रेम, लेकिन आदमी अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरों की अपेक्षा उसे है ही।" सुनीता को दूसरे ही नहीं तीसरे की भी आवश्यकता है ; सत्या की भी

आवश्यकता है जो इतना षड़यन्त्र बुन सके जिससे श्रीकांत उस रात अपने घर न आने पाये और सुनीता को घर से नदारद न देख ले। पत्नी के साथ व्यवहार की कुछ सीमाएं बन जाती हैं ; उसमें परकीया-सुलभ रोमांस की कमी रहती है, इसीलिए श्रीकांत अपनी पत्नी के लिए हरिप्रसन्न को बुलाता है और हरिप्रसन्न "इसलिए विवाह नहीं करता कि मैं पत्नी नहीं चाहता। मैं सब कुछ चाहता हूं सब कुछ।" **कल्याणी** और **त्यागपत्र** की नारियां पतिपरायाणा हैं लेकिन पति अत्यत स्वेच्छाचारी है। फलस्वरूप कल्याणी और मृणाल आत्महत्या कर लेती हैं। कल्याणी में कामकाजी नारी की व्यथा भी है। वह पति के बहाने मानो सभी को सुना कर कहती है : "अगर तुमको डाक्टरी की आमदनी भी चाहिए···तो पतिव्रत की मांग उतनी कसी नहीं रखी जा सकेगी, थोड़ा उसे उदार करना होगा।" गोदान की मालती ने भी कुछ ऐसा ही कहा था : "मेरा काम ही कुछ ऐसा है कि मुझे सभी का स्वागत-सत्कार करना पड़ता है। अगर कोई इसका कुछ और अर्थ निकालता है तो वह···" इसके बाद उसकी आवाज़ आंसुओं में डूब गयी थी। ईमानदारी का तकाज़ा है कि उस आवाज़ को सुना जाए। जैनेन्द्र के **त्यागपत्र** की मृणाल स्त्रीधर्म को पतिव्रत से अलग नहीं मानती और मृणाल के बिलकुल विपरीत नारी है सुखदा जो पतिव्रत से बंधी रहना नहीं चाहती। स्वतंत्रता का पूरा लाभ उठाती हुई सुखदा भी अन्त में प्रायश्चित करती है : "उससे जीवन पनपा नहीं ; उजड़ता ही गया ; नेह सरसा नहीं, वह विकारों की आंच में सूखता ही गया।" प्रेम किसी से, विवाह किसी से, जिससे विवाह उससे असंतुष्टि और संतुष्टि उस तीसरे में भी नहीं···जैनन्द्र की नारी इसी भूलभुलैयां में भटकती रही है। देवेश ठाकुर ने इस प्रकार के सेक्सचित्रण को 'बुद्धिजीवी सेक्स चर्वण' का नाम दिया था। यही सेक्स चर्वण चित्रलेखा और रेखा (भगवती चरण वर्मा); दादा कामरेड, मनुष्य के रूप (यशपाल), नदी के द्वीप (अज्ञेय) डूबते मस्तूल (नरेश मेहता), यह भी नहीं (महीप सिंह), अचला एक मनःस्थिति (मुद्राराक्षस), चित्तकोबरा (मृदुला गर्ग), कुरु कुरु स्वाहा (मनोहर श्याम जोशी) में भी दिखाई देता है।

रोमांटिक प्रवृत्ति की युवतियों में **नदी के द्वीप** की रेखा का चरित्र अनेक अन्तर्विरोधों के बावजूद बहुत आकर्षक है। वैसे प्रेम-सम्बन्धी प्रश्नों को अज्ञेय **शेखर** में भी उठा चुके थे लेकिन जो व्यक्तित्व अज्ञेय रेखा को दे पाए किसी अन्य पात्र को नहीं। रेखा अपने हर कार्य को दार्शनिक टच देती है। वह एक परित्यक्ता है और स्वाभाविक है कि प्रेम की तलाश में है। वह भुवन की ओर आकृष्ट होती है और तुलियन झील पर भुवन के पुरुषत्व को भोग कर अपने को 'फ़ुलफ़िल्ड' समझती है। वह भुवन-सरीखे सुन्दर और मेधावी पुत्र की मां बनने के सपने पालती है। अन्त में गर्भपात करवा लेती है और यात्रा के आख़िरी पड़ाव पर पहले पति से तलाक ले कर उसी डाक्टर रमेश से विवाह कर लेती है जिसने गर्भपात में उसकी सहायता की थी। शादी के बाद भी वह अपने श्रीमतीत्व को मिथ्या घोषित करती है और अपने को 'भुवन की थी, है और रहेगी' मानती है। इस बात से बहुत जल्दी सहमत हुआ जा सकता है कि रेखा एक बृहत समाज की नारी नहीं ; **नदी के द्वीप** के एक विलक्षण समाज की

सदस्या है। शेखर और भुवन, शशि और रेखा जैसे पात्रों के माध्यम से जो कुछ हमारे सामने आता है उससे आम पढ़ी-लिखी औरत की समस्याओं को चीह्नना गलत, असंगत और असंभव है। अज्ञेय की नारियां बेहद आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्वों की स्वामिनियां होने के बावजूद पुरुष का महत्त्व स्वीकारने वाली हैं, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। **नदी के द्वीप** की गौरा सोचती है—"किसी तरह कुछ भी करके, अपने को उत्सर्ग करके भी भुवन के घाव भर सकती।"

जैनेन्द्र के साथ-साथ "मनोवैज्ञानिक ढंग से" नारी चित्रण का श्रेय **इलाचन्द्र जोशी** को भी दिया जाता है। जोशी के उपन्यासों की स्त्री भी पुरुष के अहं की शिकार है। **संन्यासी** की नायिका जयंती अपने पति से कहती है: "आपका अहं हद दर्जे तक बढ़ा हुआ है…आप चाहते हैं कि जिस स्त्री से आपका सम्बन्ध हो, वह पूर्ण रूप से आपकी होकर रहे, उसका कुछ भी स्वतंत्र रूप से अपना कहने को न रहे…।" संदर्भ को ज़रा बदल कर देखें तो मेहता के इन शब्दों से यही भाव झांकते दृष्टिगोचर होते हैं: "संसार में जो कुछ सुंदर है, उसकी प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूं; मैं उससे यह आशा रखता हूं कि मैं उसे मार ही डालूं तो भी प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आये, अगर मैं उसकी आंखों के सामने किसी स्त्री से प्यार करूं तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे…।" कलावादी और उपयोगितावादी दृष्टियों का यह अच्छा समन्वय है! मेहता ऐसी स्त्री नहीं चाहता जो दार्शनिक सिद्धान्तों पर उससे बहस कर सके। स्पष्ट है कि वह स्त्री को अपने पैरों पर खड़ा करने का पक्षपाती नहीं है। (झुनिया से घास बिकवा कर उसे मानसिक और शारीरिक दृष्टि से जो स्वस्थ बनाया गया है, वह संदर्भ दूसरा है।) जोशी ने इस चिन्तन को आगे बढ़ाया है और स्पष्ट किया है कि इस प्रेम की प्रक्रिया में स्त्री का शोषण तभी तक हो सकता है जब तक वह मानसिक और आर्थिक रूप से अपने को पुरुष की आश्रिता समझती है। जैसे ही वह आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाती है, पुरुष की अधिकारलिप्सा के पंजे से वह मुक्त हो जाती है। **संन्यासी** की शांति ऐसी ही नारी है। जोशी की नारियों ने शोषण के विरुद्ध ज़ोरदार आवाज़ बुलन्द की है। **प्रेत की छाया** की मंजरी चेतावनी देती है: "याद रखो, विश्वव्यापी क्रांति के इस युग में आततायी और कामाचारी पुरुष-जाति की सत्ता अब निश्चित रूप से मूलतः ढहने को है।" लेकिन मूल्यों का द्वन्द्व जोशी में बना ही रहता है। इसी उपन्यास में पारसनाथ की मां अपने पति के प्रति संस्कारगत शब्दावली दुहराती है: "मुझसे इस जन्म में अगर सचमुच अपराध हुआ हो तो क्षमा कर दीजिए। यह आशीर्वाद दीजिए कि अगले जन्म में आपको ही पति-रूप में पाऊं।"

नारी की गुलामी के लिए मुख्य रूप से यही संस्कार ज़िम्मेदार है। पति के विरुद्ध कदम उठाने से, उसके अपराध की गवाही देने से पत्नी घोर पाप करती है, यह धारणा नारी-मन में बद्धमूल हो चुकी है। नारी का जन्म पिछले जन्म के कुकर्मों के कारण मिला है और पतिद्रोह जैसा कोई पाप नहीं, इस विश्वास से आम औरत आज भी मुक्त नहीं हो पाई। पुरुष का महत्त्व इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अनिवार्य सत्य है। समाज में नारी की स्थिति और उसके

लिए उत्तरदायी तत्त्वों का बेलौस विश्लेषण करने वाला साहित्यकार है···**यशपाल**। रामविलास शर्मा मानते हैं : "जैनेन्द्र जी ने सुनीता में जो भाभीवाद शुरू किया था, यशपाल जी ने मानो वही सूत्र 'दादा कामरेड' में पकड़ लिया था। वही आतंकवादी, वही साड़ी-जम्पर उतार परिस्थिति।" इसमें सन्देह नहीं कि यशपाल के उपन्यास में सेक्स और यौन प्रदर्शन को काफ़ी महत्त्व दिया गया है। सुनीता हरिप्रसन्न के समक्ष निरवस्त्र होती है तो शैल हरीश के समक्ष लेकिन यशपाल एक नुक्ते पर आकर बाकी उपन्यासकारों से अलग हो जाते हैं। यशपाल नारी को एक स्वतंत्र व्यक्तित्व देना चाहते हैं, उसे पुरुष की गुलामी से निजात दिलाना चाहते हैं। वह समस्या पर गम्भीरता से विचार करते हैं और वर्जनाओं को बड़ी बेरहमी से तोड़ते हैं। सेक्सीय स्थितियों के विषय में यशपाल एक सीधा प्रश्न करते हैं—जब आपको इन स्थितियों से आनन्द प्राप्त होता है तो आप इनके चित्रण पर आक्षेप क्यों करते हैं? **दादा कामरेड** की भूमिका में वह लिखते हैं: "आवरण के कुछ प्रेमियों को शैल के व्यवहार में नग्नता दिखाई देगी। इस प्रकार का चरित्र पेश करना वे आदर्श की दृष्टि से घृणित समझेंगे। हो सकता है शैल उनकी सहानुभूति न पा सके। परन्तु शैल है कौन? दादा कामरेड की शैल स्वयं कुछ न हो कर घृणा से नाक-भौं सिकोड़ने वालों की अतृप्त परन्तु जागरूक सक्रिय प्रवृत्ति है।" इसी उपन्यास में यशपाल विवाह-संस्था पर प्रहार करते हैं—"विवाह का दमनकारी बंधन दूर कर देने पर स्त्री-पुरुष अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहेंगे।" स्पष्ट है कि यह स्टेटमेंट हरीश को काफ़ी लाभदायक लगता है। समाज में विवाह-बन्धन के कारण नारी काफ़ी परतन्त्र है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। हर समझौता किसी न किसी हद तक स्वतन्त्रता का हनन अवश्य करता है। पति और पत्नी—दोनों को किसी न किसी मात्रा में अपनी इच्छाओं, ज़रूरतों और आदतों को ज़रूर बदलना पड़ता है। समस्या वहां बनती है जहां एक अपनी इच्छाओं को दूसरे पर हावी करना चाहता है, दूसरे की बिलकुल परवाह नहीं करता। सभी उदाहरणों में ऐसा नहीं होता इसीलिए उपर्युक्त सिद्धान्त शाश्वत नहीं माना जा सकता। मालती की तरह यशपाल की लगभग सभी औरतें काफ़ी मॉडर्न हैं; यह बात अलग है कि यशपाल की मॉडर्निटी की एक सीमा है—कम्यूनिज़्म। यशपाल के युवा विवाह में विश्वास नहीं करते और जो, भूले-भटके, इस फंदे में फंस जाते हैं उनकी एक अनिवार्य नियति है तलाक—विशेषकर ऐसे केसिज़ में जहां पति-पत्नी में से एक कम्यूनिस्ट न हो।

यशपाल सेक्सीय स्थितियों में काफ़ी दिलचस्पी लेते हैं। 'क्यों फंसे' में हेना की यह तस्वीर देखिए : "बाथरूम का दरवाज़ा खोल हेना निकली। भास्कर को रोमांच। आंखें उत्सुक कौतुहल से फैल गयीं। नहाए हुए साड़ी, पेटीकोट ब्लाउज़ हेना की बांह पर थे··· शरीर पर केवल अंगिया, तिकोना जांघिया।" साड़ी इत्यादि के उतर जाने पर शरीर पर शेष कौन-सा वस्त्र रह जाता है यह बताना यशपाल की नारी मुक्ति सम्बन्धी प्रगतिशील धारणा की विशेषता है। यशपाल कहीं अविवाहित सत्या और नरेन्द्र को (मेरी तेरी उसकी बात) प्रणयरत

दिखा कर अमर के सामने सत्या को पेश करते हैं—'जो चाहो कर लो', कहीं जयारानी की बेटी मीरा के उठते-बैठते स्कर्ट के नीचे सफ़ेद जांघिया झांकने लगते हैं (मेरी तेरी उसकी बात)। शैल, गीता, सोमा...एक सौन्दर्य प्रदर्शनी है यशपाल के पास। सेक्स जब व्यापक जीवन का अंग बन कर आता है, वह ओछा और व्यर्थ नहीं लगता लेकिन जीवन के आयामों से जहां वह अलग छिटक जाता है, वहां भद्दा और अश्लील बन जाता है। **झूठा सच** में भी सेक्स है पर वहां अधिकांश स्थितियां स्वाभाविक और यथार्थ से जुड़ी रही हैं।

जहां तक प्रेम का प्रश्न है, उसकी रोमांटिकता को यशपाल पूरी तरह नकार देते हैं। **झूठा सच** की कनक पुरी से प्रेम करके धोखे में रहती है और 'मेरी तेरी उसकी बात' की चित्रा अपने असफल दांपत्य जीवन पर उषा से कहती है—उषी, प्रेम वरेम कुछ नहीं। इस तरह के फ़ारमूला बद्ध वक्तव्यों में यशपाल अपनी बात साफ़ और सशक्त ढंग से कहते हैं और अक्सर हमें उनकी बात से सहमत होना पड़ता है। अपने दोस्त रज़ा का हवाला देता हुआ अमर कहता है: "मज़हबी लोग औरत को लैट्रिन समझते हैं। सेहत और आराम के लिए मकान में ज़रूरी, उसे एहतियात से साफ़ रखना ज़रूरी लेकिन चीज़ गंदी है।" शास्त्र एक तरफ़ नारी को देवी मानता है, दूसरी तरफ़ उसे नरक की खान घोषित करता है। इतिहास हमें बताता है कि कोई विशिष्ट नारी कभी देवी बनी होगी, आम औरत की हालत सदा शोचनीय और खस्ता रही। प्रेमचंद ने नारी को देवी घोषित किया लेकिन **गोदान** में सभी विवाहित नारियों की दशा शोचनीय है। मेहता और मालती जिन ज़िम्मेदारियों से बचने के लिए विवाह से दूर भागते हैं, वे 'मेरी तेरी उसकी बात' में नरेन्द्र के अनुसार यूं शब्दबद्ध की जा सकती हैं: "विवाह जीवन की पूर्णता के लिए आजीवन प्रेम का सम्बन्ध नहीं, मजबूरी है। ...हमारी बिरादरी, समाज में पत्नी प्रेम नहीं, विवशता में स्वामी भक्ति निबाहती है।" यशपाल नारी को व्यक्ति बनाना चाहते हैं। पार्टी कामरेड की गीता ने कम्यूनिज़्म के सम्पर्क में आ कर यही चेतना प्राप्त की थी और व्यक्तित्व की इसी पहचान के लिए यशपाल के उपन्यासों की नारियां पतियों से तलाक की फ़िराक में रहती हैं। उनकी शकुन्तला ने भी मान लिया था, पतिव्रता नारी व्यक्ति अथवा मानव नहीं, मात्र पतिव्रता होती है। उसकी यह दलील अप्सरा मेनका को भी पसन्द नहीं आई थी। वैसे, विवाह-संस्था की अनिवार्यता कहीं यशपाल के अन्तर में विद्यमान अवश्य थी। **झूठा सच** के अन्त तक आते-आते वह अपनी प्रिय पात्रा तारा का विवाह डॉ० नाथ से करवा देते हैं। इसी उपन्यास के अन्त में उन्होंने जनतन्त्र के प्रति भी अपनी आस्था प्रकट कर दी थी। क्यों? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने एक बार यूं दिया था—जनतन्त्र से अच्छी व्यवस्था मनुष्य अभी तलाश नहीं सका। इसी तरह तारा को मिसेज़ नाथ बना कर मानो यशपाल कहते हैं कि नर-नारी सम्बन्धों के विविध प्रश्नों के सदर्भ में जहां नारी स्वतत्रता ज़रूरी है, वहां मुक्तप्रेम अपने में कोई समाधान नहीं है। नारी की आर्थिक आत्मनिर्भरता और बौद्धिक जागरूकता महत्त्वपूर्ण है। यदि विवाह के बाद समझौता संभव नहीं तो तलाक का हक़ मिलना ही चाहिए।

एक अन्य उपन्यासकार जिसने नयी पीढ़ी की युवतियों की समस्याओं को गहराई से देखा और प्रस्तुत किया है, वह है **अमृत लाल नागर** । उनके मिथकीय उपन्यास 'सुहाग के नूपुर' की माधवी द्वारा कहे गये ये शब्द बहुत मार्मिक हैं : "पुरुष जाति के स्वार्थ और दम्भ भरी मूर्खता से ही सारे पापों का उदय होता है··· नारी के रूप में न्याय रो रहा है महाकवि···पुरुष न तो नारी को सती रूप में देखना चाहता है और न वेश्या रूप में" किन्तु, उपन्यास की राह में मालती की यात्रा के सन्दर्भ में **'बूंद और समुद्र'** तथा **'अमृत और विष'** महत्त्वपूर्ण हैं । **बूंद और समुद्र** की वनकन्या को जो व्यक्तित्व प्राप्त है, वह न मालती को प्राप्त है, न यशपाल के किसी नारी पात्र को । वनकन्या अतीव सुन्दरी होने के साथ विदुषी है और अपने विचार सटीक ढंग से व्यक्त करती है । यह आश्चर्यजनक और सुखद साम्य दिखाई देता है कि वनकन्या कम्यूनिस्ट है और लगता है उसके चरित्र का विकास सभवतः, नागर गीता या मनोरमा की तरह करना चाहेंगे । किन्तु वनकन्या जल्दी ही सारी कम्यूनिस्टबाज़ी छोड़ कर एक कुलवधू बनने की तैयारी करने लगती है । नारी आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो, नागर इसे नारी-स्वातन्त्र्य के लिए आवश्यक मानते हैं । अपने पिता द्वारा भतीजे की विधवा से अनैतिक सम्बन्ध एवं विधवा की मृत्यु के परिप्रेक्ष्य में वनकन्या का कहना है—भाभी का अपराध यह है कि वे औरत हैं और एकनामिकली फ्री नहीं हैं ।" यह साहसी लड़की अपने पिता को दण्डित करवाने की ठान लेती है और अपनी निष्ठा, बुद्धिमत्ता, संयम और नारी-सुलभ माने जाने वाले गुणों से संयुक्त रह कर पाठक का मन जीत लेती है, सज्जन का तो जीतती ही है । इसी उपन्यास की तारा प्रेमविवाह करके औरों की नज़रों में हीरोइन है, अपनी नज़र में भी हीरोइन है । इस उपन्यास के कुछ पात्र तो जैसे यशपाल ही के डायलाग दुहराते हैं । मनिया सुनार की 'बड़ी बहू' मोह्निनी साफ़ शब्दों में कहती है : "मैं उनकों बहुत लौ करती हूं··· वो भी मुझसे बहुत लौ करते हैं पर··· वो··· वो मेरे मन के पति नहीं बन पाते···।" अपेक्षाकृत कम विकसित विचारों वाली यह नारी अपना दर्द निजी अनुभव के आधार पर व्यक्त करती है और चाहती है कि शादी का अधिकार माँ-बाप के हाथ से छीन लिया जाए । वह तो शादी की रस्म ही के ख़िलाफ़ है । उसकी व्यथा एक मध्यवर्गीय नारी की व्यथा है जो पति की प्रकृति से समझौता नहीं कर पाती । बड़ी बेबाकी से वह कहती है : "धंधा पीटें, बच्चे जनें, मार खायें, सब के बोल-कुबोल सहें और फिर भी हमारी निगोड़ी कोई कदर नहीं ।" शीला और महीपाल भी विवाह-संस्था के विरोधी हैं । मिस शीला स्विंग डाक्टर है, और विवाहित महीपाल से सम्बन्ध बनाए हुए है । महीपाल को शिकायत है कि उसकी पत्नी कल्याणी फूहड़ है । कहानी को छोड़ विचारों का पल्ला पकड़े रखें तो पता चलता है कि शीला स्विंग शादी को नारी-स्वतंत्रता के लिए बहुत बाधक नहीं मानती । वह माता पिता द्वारा निश्चित एवं प्रेम विवाह को सतान धरातल पर रख देती है क्योंकि असफलता तो दोनों ही में हो सकती है । वह नारी के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता ज़रूरी मानती है । बात साफ़ है कि कल्याणी आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होती तो अपनी

पतिव्रत धर्म से बंधी मानसिकता के बावजूद इतना अन्याय न सहती। प्रेम-विवाह ही समस्या का हल नहीं है, यह तथ्य इसी उपन्यास में बड़ी बहू और कवि विरहेश के विवाह से सिद्ध हो जाता है। **अमृत और विष** में भवानी और उषा के प्रेम विवाह की असफलता भी यही साबित करती है लेकिन रमेश और रानी का विवाह करवा कर अमृतलाल नागर स्पष्ट करते हैं कि प्रबुद्ध युवक-युवती को चाहिए कि सोच-समझ कर जीवन साथी चुनें। विवाह से पहले अपने पैरों पर खड़े होना बहुत ज़रूरी है, एक दूसरे की प्रवृत्तियों की पहचान ब त ज़रूरी है, फैसला करने से पहले अनेक पहलुओं पर गहराई से विचार करना बहुत ज़रूरी है और विवाह के बाद ब त से मोर्चों पर समझौता भी बहुत ज़रूरी है। माता-पिता को न तो विवाह से पहले दखल देना चाहिए न बाद में। आज नारी जिस स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील है, उस पर सज्जन की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है: "कहां की बराबरी? यह बराबरी भी एक झूठा ढोंग है। इस बराबरी में स्त्री अब स्त्री न रह कर गुड़िया रह गई है। पुराने आचार-विचारों ने उसे दासी ओर वेश्या बनाया था, अब वह महज़ वेश्या है।" नागर के पास चित्रा राज़दान जैसा पात्र भी है। यह औरत पति के बर्थडे पर उसे अपने तमाम हस्बैंड्स के नामों और पतों का एल्बम भेंट करना चाहती है। तीन-चार सौ पतियों का एक हरम बसाना उसकी तमन्ना है। चित्रा पुरुष द्वारा नारी के शोषण की प्रतिक्रिया है। **अमृत और विष** में मिसेज़ माथुर है जो नये फ़ैशन में सजी-बजी, रंगी-चुनी कचालू-मटर की चाट जैसी लगती थी और जिसे अपने नाम के साथ 'माथुर' जोड़ना गवारा नहीं था। वह हर पुरुष को भोगना चाहती थी। लच्छू से उसने कहा था: "उमा—तुम उमा कहा करो। मुझे उस इंपोटेंट मुर्गे का नाम भी अपने साथ जोड़ना अच्छा नहीं लगता।" इस तरह की एक और नारी **महीप सिंह** के उपन्यास **'यह भी नहीं'** की शांता है जो 'मॉड' बनने की कोशिश में अधिकाधिक बेचैन होती जाती है। वह कमसिन सोहन को भगा कर बम्बई ले जाती है और वहां अनेक पुरुष बदलती है। लेकिन यह रास्ता न नागर को पसन्द है न महीप को। नागर की शीला स्विंग वनकन्या के सुहाग के सामने अपने को बहुत हीन महसूस करती है, चित्रा राज़दान के लिए सज्जन के द्वार बन्द हो जाते हैं। महीप का पंकज अपनी पत्नी तोषी के साथ संतुष्ट और प्रसन्न रहता है।

विवाह के बिना गृहस्थी बसाने वाली एक नारी **राजेन्द्र यादव** के उपन्यास **'उखड़े हुए लोग'** की जया है। वह सहयोगिनी और पत्नी है···विवाह की भांवरें लिए बिना। शरद की यह फ़ब्ती मानो उन्हीं उपन्यासकारों के लिए है जो नारी-मुक्ति का अर्थ सेक्स-मुक्ति या गृहस्थ-मुक्ति मानते हैं, साथ ही सतीत्व के 'टेबू' को तोड़ना उनके लिए सभव नहीं है: "कहने को आप बड़ी आसानी से कह देते हैं कि हर स्त्री को घूमने-फिरने, बोलने-चालने की स्वतन्त्रता है, बस सेक्स की दृष्टि से वह एक निष्ठ रहे, लेकिन सच पूछो तो मानसिक रूप से हम खड़े हैं वहीं जहां आज से बीसियों साल पहले डी० एच० लारेंस खड़ा था और जैसे हम बैठकर बातें कर रहे हैं, वैसे ही 'लेडी चैटरलीज़ लवर' में बातें होती थीं।" यौन-आवश्यकताओं, यथार्थ सेक्स चित्रण के नाम पर जो स्थितियां हमारे यहां मिलती हैं, वे सचमुच चैटर्लीज़ लवर की जूठन दिखाई देती हैं। जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय में ये स्थितियां हैं

ही, उनके बाद भी इनकी काफ़ी बहुतायत रही है। **डूबते मस्तूल** की रंजना और **अचला : एक मन:स्थिति** की अचला सेक्सीय स्थितियों का एल्बम बनाने के लिए गढ़े गये पात्र हैं। रंजना पांच बार विवाह करती है और उसके जीवन की परिस्थितियों की विडम्बना के बावजूद उसके ये शब्द उपन्यास के मूल प्रेरक प्रतीत होते हैं : जिस उच्चवर्ग से मैं आती हूं, वहां नारी के लिए पुरुष मात्र पुरुष होता है और···नारी मात्र विलास का साधन।'' अनेक पति बदलने वाली रंजना जानती है, मेरे पास मन नहीं है। नारी का मन होता कहां है यह आदिम लोकमानसीय मान्यता अव्वल तो नारी के पास मन जैसी चीज़ मानती नहीं और जहां नारी को मन-युक्त करने का बहाना करती है, वहां भी उसे पुरुष के शारीरिक या मानसिक विलास में सहायक उपकरण बना देती है। नारी का अपना मन नहीं होता वह तो दूसरों की इच्छा के अनुसार पोज़ बदलती है। यह इच्छा चाहे लेखक की हो या पति/प्रेमी संज्ञा प्राप्त किसी पुरुष की। **चित्तकोबरा** में मनु महेश की पत्नी है लेकिन रिचर्ड की प्रेमिका है। महेश के लिए वह मात्र शरीर बन जाती है। चित्तकोबरा में जो सेक्सीय स्थितियां हैं उन पर काफ़ी गर्मागर्म चर्चा 'सारिका' में छपी द्रोणवीर कोहली की रिपोर्ट और सूर्यबाला की चुटीली टिप्पणी से छिड़ चुकी/हो चुकी है। मनु की अदम्य आकांक्षा है—'मैं बस एक विशाल उरोज होती।' ऐसी ही स्थितियों को उछालने-उभारने वाली कृतियों के लिए देवेश ठाकुर लिखते हैं : ''वास्तविक जीवन के स्पन्द से रहित कृतियां 'शो केसों' में सजे हुए 'माडल' तो हो सकती हैं लेकिन व्यावहारिक स्तर पर उनका कोई भी उपयोग नहीं हो सकता।'' प्रयोग के नाम पर इन कृतियों को साहित्य के गले नहीं उतारा जा सकता। उपन्यास को गप्प और बम्बइया बायस्कोप का पर्यायवाची मानने वाला उपन्यासकार किस्सागोई कर सकता है, अपनी रचना को जीवन की ज़िंदा तस्वीर नहीं बना सकता। मनोहरश्याम जोशी **कुरु कुरु स्वाहा** में अपनी 'पहुंचेली' में चित्रलेखा की वाकपटुता और दार्शनिकता देकर भी किस्सागोई से ऊपर नहीं उठ पाए। वह वारांगना वक्ष से पल्लू हटा कर पुरुष की हथेली 'बिग क्लोज़ अप' पर रख देती है; वह बारह साल की उमर में 'कोंचा कोंची के सारे स्विच' दबा कर देख चुकी है और जोशी जी ''टॉप ऐंगल वाले शाट'' में उघरी टांगों, थोड़ी दूर पड़े सैण्डलों, खुले ब्लाउज़, गले पर घूमती ब्रा में बलात्कार और हत्या का मिला जुला आभास लेते रहते हैं—उत्तेजनाहीन सेक्स का नया दृष्टांत (?)

हिन्दी उपन्यास के व्यापक फलक पर एक तरफ़ मालती है, दूसरी तरफ़ मनु है। बीच में कहीं लाल के **काले फूल का पौदा** की गीता है जो पढ़ी-लिखी होकर भी पुराने संस्कारों की युवती है। बहुत कोशिश करने पर भी वह पराये पुरुष के स्पर्श को 'टेक इट ईज़ी' के पति-वाक्य के अनुसार स्वीकार नहीं कर पाती।

नारी मात्र योनि या उरोज नहीं है और फिर सन्तान-प्राप्ति के बाद उसके व्यक्तित्व के मूल्य पूरी तरह बदल जाते हैं। नारी की प्रजनन-सम्बन्धी भूमिका उसे पत्नी बनाती है तो मां भी। रेखा ने भुवन के पुत्र को कोख में पाकर अपने को सम्पूर्ण समझा था ; मनु भी उसी

तरह गर्भ-धारण की कल्पना करती है, शांता अपने पुत्र का मोह छोड़ नहीं पाती। संतानोत्पत्ति के संदर्भ में जो नारी की भूमिका है, वह नारी की मोनापली है। वह नारी का सौभाग्य भी है, दुर्भाग्य भी।

प्रेमचंद के उपन्यासों में कामुक सेक्सीय स्थितियां नहीं हैं तो यह कोई आक्षेप-योग्य तथ्य नहीं है। प्रश्न यह है कि मालती और मेहता का भावी सम्बन्ध क्या होगा? मालती-मेहता एक घर में रहते हैं लेकिन प्रेमचन्द ने ईडन के जिस बाग़ में अपने आदिम और हव्वा को रखा दिया है, उस बाग़ का वर्जित फल चखने का हक उन्हें आलिंगन के बाद भी देने को तैयार क्यों नहीं हैं? यदि तैयार हो भी जाएं तो सात भांवरों से ही क्या फ़र्क पड़ जाता है?

मालती से नारी की जो यात्रा शुरू हुई है, उसमें अब तक एक पीढ़ी का—कम से कम एक पीढ़ी का—अन्तराल आ चुका है। यथार्थ काफ़ी आगे बढ़ा है। मालती अब भी एक क्लासिक दृष्टांत के रूप में हमारे सामने खड़ी है, यह प्रेमचंद की उपलब्धि है। मालती के चरित्र द्वारा जो प्रश्न हमारे सामने उठाए गये थे उनके उत्तर तलाशते हम कुछ इस तरह की इबारत पर पहुंच जाते हैं:

(१) प्रेम नारी के लिए वर्जित नहीं; (२) विवाह सम्बन्धी निर्णय का हक पढ़े लिखे युवक-युवती को दिया जाना चाहिए, उनके मां-बाप को नहीं; (३) नारी-स्वतंत्रता के लिए उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता ज़रूरी है; (४) सतीत्व और शुचिता सम्बन्धी मान्यताओं और वर्जनाओं में काफ़ी ढील देने की ज़रूरत है; (५) पति-पत्नी की आपस में न बने तो कैद में छटपटाते रहने की अपेक्षा तलाक लेना बेहतर है; (६) मुक्त भोग समस्या का कोई समाधान नहीं है।

यहीं पहुंच कर मेरा शोधार्थी मेरा साथ छोड़ने लगता है और कवि मन मुखर होने लगता है। देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास '**कथा कहो उर्वशी**' में एक लतीफ़ा-स्टाइल डायलाग है: "नेपोलियन ने कण्डोरसेट से कहा—'मैं नहीं चाहता कि नारी राजनीति में हस्तक्षेप करे।' और उसके उत्तर में मैडम ने कहा—'आपका यह कहना तो ठीक है सेनापति महोदय! पर जिस देश में स्त्रियों के सिर काटने की प्रथा हो, उस देश में यह बात स्वाभाविक है कि स्त्रियां भी यह जानना चाहें कि हमारे सिर क्यों काटे जा रहे हैं।" प्रेमचंद के **कायाकल्प** की मनोरमा कुछ ऐसी ही बात सीता-वनवास के संदर्भ में कह चुकी थी: "जब राजा से साधारण प्रजा न्याय का दावा कर सकती है तो क्या उसकी स्त्री नहीं कर सकती?" लेकिन इस वाक्य के पहले मनोरमा ने जो कुछ कहा था, वह प्रेमचंद की मनोवृत्ति समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनोरमा राम के न्याय पर प्रश्न जड़ने से पहले मान लेती है कि "स्त्री को पुरुष की आज्ञा माननी चाहिए।" यह आदर्श-वाक्य देने वाला पुरुष गोदान में भी मौजूद है। मुझे लगता है, मालती की कथा, जैसी गोदान में कही गयी है, अधूरी है। इसी तरह सुनीता, रेखा, शैल, वनकन्या, रंजना, शांता, मनु··· सभी पढ़ी-लिखी, विचारशील, अनिंद्य सुन्दरियों के माध्यम

से कही गयी नारी-कथा भी अधूरी है। आज की नारी पुरुष की भूख का शिकार नहीं बनना चाहती ; वह यह भी नहीं चाहती कि उसके किस्से गढ़ कर कोई अपनी विलास-वृत्ति की तृप्ति करे ; वह पुरुषों द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों और कानूनों को आंखें मूंद कर मानने के लिए तैयार नहीं है। नारी की पीड़ा, उसका मूक प्रतिवेदन, उसका स्पष्ट विद्रोह राजनीतिक बहस की ही चीज़ नहीं, साहित्यिक दायित्वों को भी खुली-चुनौती है। 'कथा कहो उर्वशी' की नक्ल पर 'कथा कहो मालती' शब्द मेरे मन में गूंजते हैं लेकिन कविमन तुकबन्दी कर देता है—"कथा कहो मालती, व्यथा कहो मालती।"

प्रेमचंद की परम्परा और हिन्दी उपन्यास

—डॉ० हरदयाल

प्रेमचंद की परम्परा क्या है ? सबसे पहला प्रश्न तो यही है। प्रेमचंद ने इस शताब्दी के बिल्कुल प्रारम्भ में लिखना शुरू किया था। उनका पहला उपन्यास उर्दू में था **असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य**। यह उपन्यास बनारस से प्रकाशित उर्दू साप्ताहिक 'आवाज़ए खल्क' में ८ अक्तूबर १९०३ से १ फरवरी १९०५ तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास से लेकर **मंगलसूत्र** की रचना तक यानी १९३६ तक प्रेमचंद बराबर लिखते रहे। प्रारम्भ उन्होंने उर्दू से किया, हिन्दी में वे बाद में आये। लेकिन अन्त तक वे हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखते रहे। उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों से उर्दू और हिन्दी दोनों के कथा-साहित्य को निर्णायक मोड़ दिया। हिन्दी में प्रेमचंद से पूर्व उपन्यास के नाम पर या तो तिलस्मी, अय्यारी और जासूसी कहानियां लिखी जा रही थीं या उपदेशात्मक कहानियां। मनोरंजन और समाजसुधार इनका प्रमुख लक्ष्य था। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में इन दोनों चीजों को सुरक्षित रखा। उन्होंने अपने उपन्यासों की कथा इस प्रकार कही कि सामान्य-से-सामान्य पाठक उसे रुचिपूर्वक पढ़ सके। इसे उन्होंने तिलस्मी उपन्यासों और लोक कथाओं से सीखा। उन्होंने अपने उपन्यासों की रचना सोद्देश्य की। अपने अन्तिम पूर्ण उपन्यास **गोदान** को छोड़ कर उन्होंने प्रायः शेष सभी उपन्यासों में एक प्रमुख समस्या सामने रखी और उसका स्थूल आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत किया। जैसे **सेवासदन** में वेश्या बनने की प्रक्रिया को चित्रित किया, उसकी बुराइयों पर प्रकाश डाला, उसके उत्तरदायी कारणों का विवेचन किया और फिर एक सेवासदन की स्थापना करके समस्या का हल प्रस्तुत कर दिया। प्रेमचंद के उपन्यासों को इस अर्थ से सोद्देश्य कहा जा सकता है। वे 'कला के लिए' सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे बल्कि कला को जीवन को सुधारने का एक साधन मानते थे। उनके सामने कोई एक ही समस्या नहीं थी। उन्होंने जीवन को टुकड़ों में बांट कर नहीं देखा था बल्कि उसे समग्रतः देखा था। यह दूसरी बात है कि कहीं उनकी दृष्टि बहुत गहराई तक गयी थी और कहीं सतह का ही स्पर्श करके रह गयी थी। गहराई तक वे ग्रामीण जीवन को ही देख पाये थे। नगर के निम्न वर्ग एवं निम्न मध्य वर्ग के जीवन पर भी उनकी पकड़ गहरी और सूक्ष्म

थी। वे जिस जीवन का चित्रण कर रहे थे उसके प्रायः सभी पक्षों पर प्रकाश डाला था। उनके सामने अनेक प्रश्न थे। देश स्वाधीनता के संघर्ष में लगा था। प्रेमचंद स्वयं इसमें संसक्त थे: अतः उनके उपन्यासों में राजनीति किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र विद्यमान है। **निर्मला** जैसे सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यास में भी वे इसके लिए स्थान निकाल लेते हैं। निर्मला की छोटी बहन कृष्णा का पति राष्ट्रीयता की भावना से भरा हुआ है। वह स्वदेशी वस्त्र पहनता है, उनका प्रचार करता है। कृष्णा अपने पति को अपने हाथ के कते महीन सूत का साफा भेंट करना चाहती है। ध्यान देने की बात यह है कि कृष्णा का पति ऐसे परिवार का सदस्य है जो लालची और रिश्वतखोर परिवार है और जिसका लालच निर्मला की त्रासदी के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी है। प्रेमचंद में राष्ट्रीयता की भावना केवल भावनात्मक स्तर तक ही सीमित नहीं थी बल्कि वे उसका ठोस व्यावहारिक रूप भी लेकर चलते थे। राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने वाले उच्च वर्ग के लोगों के दुरंगे आचरण को उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से पकड़ लिया था। **गोदान** में राय साहब के दुरंगे आचरण पर कटाक्ष करते हुए प्रोफेसर मेहता कहते हैं—"भाई, मैं प्रश्नों का कायल नहीं। मैं चाहता हूं, हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो। आप कृषकों के शुभेच्छु हैं, उन्हें तरह-तरह की रियायत देना चाहते हैं, जमींदारों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं, बल्कि उन्हें आप समाज का श्राप कहते हैं, फिर भी आप जमींदार हैं, वैसे ही जमींदार जैसे हजारों जमींदार हैं। अगर आपकी धारणा है कि कृषकों के साथ रियायत होनी चाहिए तो पहले आप खुद शुरू करें। ...मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नहीं है जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की–सी, मगर जीवन है रईसों का–सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।" प्रो० मेहता के माध्यम से प्रेमचंद ने कितने पते की बात कही है! प्रेमचंद के दिनों से लेकर अब तक की भारतीय राजनीति पर यदि दृष्टिपात करें तो **चाहिए** की भाषा में बात करने वाले नेताओं, शासकों और रईसों का–सा जीवन व्यतीत करने वाले कम्युनिस्टों के अनेक उदाहरण हमें अनायास मिल जायेंगे। प्रेमचंद स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन में कथनी और करनी की एकता में आस्था रखते हुए उसे घटित करने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने असहयोग आन्दोलन में अच्छी-खासी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया था। उनके साहित्य में जो प्रभविष्णुता है, उसका एक कारण यह प्रयत्न है। प्रेमचन्द को राजनैतिक दृष्टि से दक्षिण और वाम के बीच खींचने-तानने का प्रयत्न बराबर होता रहता है लेकिन हमें लगता है कि इस मामले में वे अन्त तक इस या उस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाये थे। उनके समय की राजतीति भी ऐसी थी जो उन्हें ऐसे निष्कर्ष तक पहुंचने में सहायता नहीं देती थी। इस अर्थ में वे **स्वतन्त्र** बुद्धिजीवी थे। वे निरन्तर सोचते-विचारते थे और कोई ऐसा तन्त्र नहीं पा रहे थे जिसे वे अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार कर पाते। इसे उनकी मध्यवर्गीय ढुलमुलयकीनी भी कहा जा सकता है। लेकिन सत्य यह है कि वे राजनीति, विचारधारा और साहित्य में किसी खूंटे से बधे नहीं थे। दयानारायण निगम के नाम २७ फरवरी १९२३ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा था—"आपने मुझसे पूछा था कि मैं किस

पार्टी के साथ हूं ? मैं किसी भी पार्टी में नहीं हूं। इसीलिए कि इस समय कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूं जो अवाम-अलनास (जन साधारण) की सियासी तालीम को अपना दस्तूरूल-अमल (विधान) बनाएगी।'' ऐसी पार्टी प्रेमचंद के जीवन-काल में नहीं आ पायी। आज भी आ पायी है ? —नहीं कहा जा सकता। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी वे किसी ऐसी राजनैतिक व्यवस्था को नहीं खोज पाये थे जो उन्हें सन्तोष दे पाती। **गोदान** में प्रो० मेहता साम्यवाद और जनतन्त्र दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का विरोध करते हैं। दैनिक पत्र 'बिजली' के सम्पादक पं० ओंकारनाथ को उत्तर देते हुए वे कहते हैं—''जिस मत के आप समर्थक हैं, वह भी तो कोई नयी चीज नहीं। जब से मनुष्य में ममत्व का विकास हुआ तभी (से) उस मत का जन्म हुआ। बुद्ध और प्लेटो और ईसा सभी समाज में समता के प्रवर्तक थे। यूनानी और रोमन और सीरियाई सभी सभ्यताओं ने उसकी परीक्षा की, पर अप्राकृतिक होने के कारण कभी वह स्थायी नहीं बन सकी।'' प्रो० मेहता स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ''संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे, और उन्हें रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा।'' वीमेन्स लीग में भाषण देते हुए प्रो० मेहता कहते हैं—''वोट नये युग का मायाजाल है, मरीचिका है, कलंक है, धोखा है।'' स्पष्ट है कि राजनैतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रेमचंद किसी निर्विकल्प निर्णय पर नहीं पहुंच पाये थे लेकिन संवेदनात्मक स्तर पर उन्होंने जान लिया था कि जो राजनैतिक स्थिति है, स्वाधीनता-संघर्ष का जो वर्गचरित्र है, उसके कारण स्वाधीनता मिलने पर सत्ता के चरित्र में विशेष परिवर्तन नहीं होगा। नवम्बर १९३० के **हंस** में प्रकाशित उनकी कहानी **आहुति** में उसकी नायिका कहती है—''अगर यह समाज-व्यवस्था ज्यों-की-त्यों बनी रहे, पैसे का शोषण, धर्म और जाति का दमन ज्यों-का-त्यों बना रहे, सिर्फ जॉन की जगह गोविन्द को गद्दी पर बैठा दिया जाये तो मैं इसे स्वराज्य नहीं समझती। ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा।''

जैसे राजनीति उनके उपन्यासों का अभिन्न अंग है वैसे ही अर्थनीति भी। सामाजिक प्रश्नों का आर्थिक पक्ष भी अनिवार्य रूप से होता है। प्रेमचंद इसे बराबर स्पर्श करते हैं। सुमन के वेश्या बनने के कारणों में समाज की अर्थ-व्यवस्था भी एक कारण है। दहेज-प्रथा के कारण सुमन का विवाह एक दुहाजू गरीब पुरुष के साथ हुआ और परिस्थितियों ने उसे वेश्या बना दिया। सुमन की समस्या का हल भी प्रेमचंद ने उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता में प्रस्तुत किया, लेकिन जिस रूप में उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता की परिकल्पना की, वह व्यावहारिक कम, आदर्शवादी अधिक थी। **सेवासदन** की सुमन की तरह ही **निर्मला** की निर्मला के दुःख का एक कारण आर्थिक स्थिति है। उसका विवाह अपने पिता की अवस्था वाले दुहाजू पुरुष के साथ भी इसलिए होता है कि उसकी विधवा मां दहेज देने में असमर्थ है। **गबन** में मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति और उसकी पेंडुलम वाली वर्गीय स्थिति पात्रों को कैसी-कैसी दुखद स्थितियों में डाल देती है। **प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि** इत्यादि सभी उपन्यासों की

कथाओं का एक आर्थिक पक्ष है। प्रेमचंद इन उपन्यासों में जिन कथाओं को प्रस्तुत करते हैं उनमें आर्थिक समस्याएं बराबर उठाते चलते हैं और उनके अयथार्थवादी समाधान भी प्रस्तुत करते चलते हैं। **गोदान** तक पहुंचते-पहुंचते वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचते प्रतीत होते हैं कि इन आर्थिक समस्याओं का कोई समाधान नहीं है। होरी को जी-तोड़ मेहनत करते हुए नंगे और भूखे ही मरना है। यह एक प्रकार का निराशावाद है। १९२५ में प्रकाशित अपने **उपन्यास** शीर्षक निबन्ध में प्रेमचंद ने लिखा था कि यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है। क्या **गोदान** तक पहुंचते-पहुंचते प्रेमचंद निराशावादी हो गये थे? **गोदान** के अन्त से तथा **कफन** और **पूस की रात** जैसी कहानियों से तो यही लगता है, बल्कि ऐसा ही लगता है, कि वे अराजकतावादी निष्कर्ष निकाल रहे थे। उन्होंने शोषितों-दलितों, मजदूरों-किसानों की क्रान्तिकारी भूमिका को नहीं पहचाना था, लेकिन समाज में घटित हो रहे आर्थिक परिवर्तन को संवेदनात्मक स्तर पर प्रेमचंद ने पहचान लिया था। यह परिवर्तन सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की दिशा में घटित हो रहा था। १९२२-२४ में लिखित **रंगभूमि** में प्रेमचंद ने सामन्तवादी-पूंजीवादी शक्तियों के एकजुट होने और उनके विरुद्ध सूरदास के संघर्ष का चित्रण किया है। सूरदास स्पष्टतः हारता है, लेकिन प्रेमचंद उसकी पराजय स्वीकार नहीं करते। **गोदान, कफन, पूस की रात** तक आते-आते वे इस पराजय को स्वीकार कर लेते हैं। **गोदान** का किसान नायक मजदूर बनकर मरता है। **पूस की रात** का हल्कू भी किसान न रहकर मजदूर बनना अधिक अच्छा समझता है। **कफन** का मजदूर मजदूरी भी छोड़ देता हैं, क्योंकि जिस समाज में दिन-रात मेहनत करने वाला भूखा और नंगा रहता है, उसमें मेहनत न करना अधिक अच्छा है। इस संक्रमण के कारण समाज में घटित हो रहे सूक्ष्म परिवर्तन को भी प्रेमचंद ने पकड़ा था। **कफन** कहानी का घीसू बीस साल पहले (यानि १९१६ के आसपास) ठाकुर की बारात में दावत में खाये हुए स्वादिष्ट पदार्थों की चर्चा अपने पुत्र से बड़ी ललक के साथ करता है। माधव मन-ही-मन इन पदार्थों का मजा लेते हुए कहता है—"अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।" क्यों? घीसू के कथन में इसका उत्तर छिपा है जो पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजी-निर्माण की प्रक्रिया को उजागर करता है। घीसू कहता है—"अब कोई क्या खिलायेगा? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफ़ायत सूझती है। शादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-करम में मत खर्च करो। पूछो, गरीबों का माल बटोर-कर कहां रखोगे? बटोरने में तो कमी नहीं है। हां, खर्च में किफायत सूझती है।" इससे यह बात साफ हो जाती है कि समाज में घटित हो रहे आर्थिक-परिवर्तन के साथ-साथ प्रेमचंद भी आगे बढ़ रहे थे और थोड़ी-सी अनिच्छा के साथ उसे स्वीकार कर रहे थे।

आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों के साथ-साथ और बहुत सारे प्रश्न उन्होंने अपने उपन्यासों में उठाये हैं। उन्होंने विस्तार के साथ सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों का चित्रण किया है और अगतिशील एवं प्रतिगामी तत्वों का विरोध किया है। यहां उनका विवरण प्रस्तुत

करने की आवश्यकता नहीं है। यहां हम स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर प्रेमचंद की नैतिक दृष्टि पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। क्यों? यह आगे चल कर स्पष्ट होगा। प्रेमचंद के उपन्यासों से स्पष्ट है कि वे विवाहेत्तर प्रेम-सम्बन्धों के पक्ष में नहीं थे। **निर्मला** उपन्यास के डॉ० सिन्हा अपनी पत्नी सुधा की अनुपस्थिति में निर्मला से छेड़छाड़ करते हैं। सुधा को जब पता चलता है तब वह उन्हें बुरा-भला कहती है और वे आत्महत्या कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में सुधा को अपने विधवा होने का दुख नहीं है। वह निर्मला से कहती है—"ऐसे सौभाग्य से वैधव्य को मैं बुरा नहीं समझती। दरिद्र प्राणी उस धनी से कहीं सुखी है जिसे उसका धन सांप बनकर काटने दौड़े। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल है।" प्रेमचंद की दृष्टि में विवाहेत्तर प्रेम वासना का विकृत रूप है। वीमेन्स लीग में भाषण देते हुए **गोदान** उपन्यास के प्रो० मेहता कहते हैं—"जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख मांगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त विलास में बिल्कुल नहीं है।"

प्रमचंद की परम्परा और परवर्ती हिन्दी उपन्यास

राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक प्रश्नों पर थोड़े विस्तार के साथ चर्चा हमने एक तो इसलिए की है कि प्रेमचंद-परवर्ती हिन्दी-उपन्यासों में ये प्रश्न बार-बार उठे हैं। दूसरे, इसलिए कि यह स्पष्ट हो सके कि प्रेमचद की दृष्टि बहुआयामी थी। उनकी मुख्य शक्ति उस समग्रताबोध में है जिसके तहत वे जीवन का इतना व्यापक चित्रण कर सके हैं, जितना व्यापक चित्रण हिन्दी का कोई दूसरा उपन्यासकार नहीं कर सका है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रेमचंद के उपन्यासों में मनुष्य के बाह्य जीवन की, उसके संस्थाबद्ध जीवन की प्रधानता है, लेकिन उन्होंने मनोवैज्ञानिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की है। वे मानते थे कि उपन्यास 'मानव-चरित्र का चित्र मात्र' है तथा श्रेष्ठ कहानी का आधार मनोवैज्ञानिक सत्य होता है। सत्य को उसके यथार्थ और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने के लिए वे मनोविज्ञान की सहायता लेना आवश्यक मानते थे। इस सिद्धान्तगत मान्यता को अपने उपन्यासों में उन्होंने व्यावहारिक रूप दिया। **निर्मला** में उसके प्रमुख पात्रों के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उन्होंने इतना महत्व दिया है कि उसे हिन्दी का पहला मनोवैज्ञानिक उपन्यास माना जा सकता है। यहां ध्यान देने की बात यह है कि केवल प्रेमचंद के उपन्यासों में ही मनोवैज्ञानिकता नहीं बढ़ रही थी बल्कि समूचा हिन्दी उपन्यास मनोवैज्ञानिकता की ओर झुक रहा था। **निर्मला** १९२३-२४ की रचना है। जैनेन्द्र का पहला उपन्यास **परख** १९२९ में प्रकाशित हुआ। जैनेन्द्र का स्वागत करने वालों में प्रेमचद सबसे आगे थे। प्रेमचद के अनुसरण-कर्त्ता माने जाने वाले विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने अपने दोनों उपन्यासों **मां** (१९२९) और **भिखारिणी** (१९२९) में नारी का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। अन्तर केवल इतना है कि जहां प्रेमचंद ने सामान्य मनोविज्ञान का सहारा लिया है वहां जैनेन्द्र ने असामान्य मनोविज्ञान का। दूसरा अन्तर यह है कि प्रेमचंद ने व्यक्ति को समाज से काट कर नहीं देखा है जबकि जैनेन्द्र के उपन्यासों में व्यक्ति समाज से

कटता चला गया है। प्रेमचंद के जीवन काल में ही छायावादी-रोमानी, प्रकृतवादी और ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रवृत्तियां भी सामने आ गयी थीं जिनका प्रेमचंद के साथ अधिक साम्य नहीं था।

ऐसी स्थिति में प्रेमचंद की परम्परा किसे माना जाये ? प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यासकारों में उस व्यापक जीवनबोध का सर्वथा अभाव मिलता है जो प्रेमचंद की मुख्य शक्ति है। इस दृष्टि से हिन्दी में प्रेमचंद की कोई परम्परा नहीं चली। हमें लगता है कि बाद के उपन्यासों में प्रेमचंद टुकड़ों में बंट गये—वे विशेषीकरण की प्रवृत्ति के कारण अनेक छोटी-छोटी प्रवृत्तियों में विभाजित हो गये। उनकी मनोवैज्ञानिकता को मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार ले उड़े तो उनके सामाजिक सरोकार को प्रगतिशील कहलाने वाले उपन्यासकार। उनके ग्रामीण चित्रण को आंचलिक उपन्यासकार ले उड़े। इसलिए परवर्ती उपन्यासकारों में सूक्ष्मता और गहनता तो आई लेकिन ये उपन्यासकार व्यापकता, यथार्थ जीवन के व्यावहारिक सामान्य प्रश्नों और उनसे उद्‌भूत विचारणा से कट गये। एक गड़बड़ और हुई। प्रेमचंद के बाद के हिन्दी उपन्यासकारों ने जीवन से सीखने की अपेक्षा पुस्तकों से सीखना शुरू कर दिया। इलाचन्द्र जोशी जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने असामान्य मनोविज्ञान की पुस्तकों से अपने उपन्यासों के लिए सामग्री ली और उनके उपन्यास मनोरोगियों की 'केस हिस्ट्रीज' बनकर रह गये। फ्रायड के प्रभाव से केवल मनोवैज्ञानिक और प्रकृतिवादी उपन्यासकार ही ग्रस्त नहीं हुए, बल्कि प्रगतिवादी उपन्यासकार भी ग्रस्त हुए। यहां यशपाल के **दादा कामरेड** और **क्यों फंसें** जैसे उपन्यासों का उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा। मानव-मन का अवगाहन करने का दावा करने वालों ने फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों की पुस्तकों से सीखा और मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का अवगाहन करने का दावा करने वालों ने मार्क्स, एंजल्स, लेनिन, माओ इत्यादि की पुस्तकों से शिक्षा ग्रहण की, मानव-नियति के मौलिक प्रश्नों से साक्षात्कार करने का दावा करने वालों ने सार्त्र इत्यादि अस्तित्ववादी विचारकों-रचनाकारों की कृतियों से ज्ञानार्जन किया। प्रक्रिया उलट गयी। प्रेमचंद ने पहले जीवनानुभव को महत्व दिया और विचारों को नम्बर दो पर रखा। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों ने विचारों को प्रथम स्थान दिया और जीवनानुभव को नम्बर दो पर रखा। इसका एक परिणाम तो यह निकला कि उपन्यास-लेखन फार्मूलाबद्ध हुआ। जैनेन्द्र और यशपाल जैसे प्रतिभा-सम्पन्न उपन्यासकारों में तो फार्मूला आसानी से पकड़ में नहीं आता है, लेकिन इलाचन्द्र जोशी और नागार्जुन जैसे उपन्यासकारों में वह छिप नहीं पाता है। इसका एक परिणाम एक दूसरे रूप में सामने भी आता है। और वह यह कि नैतिक प्रश्नों को लेकर सन्देहशीलता बढ़ जाती है या फिर फ्रायड की मान्यताओं को स्वीकार करके उसे मात्र जैविक धरातल पर उतार लाया जाता है। आर्थिक प्रश्न मुख्यतः मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकारों ने ही उठाये हैं। उनके यहां इस प्रश्न को लेकर एक प्रक्रिया और उसके परिणाम पहले से ही निश्चित हैं, इसलिए आर्थिक प्रश्नों को लेकर वहां वैसी प्रखरता नहीं है जैसी हमें प्रेमचंद में मिलती है। शोषण की प्रक्रिया का

जैसा मार्मिक चित्रण हमें **गोदान** में मिलता है वैसा हमें किसी दूसरे हिन्दी उपन्यास में नहीं मिलता है। यहां राजनैतिक प्रश्नों का सवाल आता है वहां यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंदोत्तर अधिकांश हिन्दी उपन्यासकार राजनीति से उदासीन हैं—राजनीति के प्रति सचेत केवल प्रगतिवादी उपन्यासकार हैं। प्रेमचन्दोत्तर काल में भारतीय राजनीति की जो स्थिति रही है और उसमें वामपंथी दलों की जो भूमिका रही है, उसने अनेक प्रगतिवादी उपन्यासकारों को भी असमंजस की स्थिति में डाला है।

प्रेमचंद की औपन्यासिक परम्परा का प्रतिफलन हिन्दी में किस प्रकार हुआ, इसे ठीक ठीक समझाने के लिए मैं दो उपन्यासों पर किंचित् विस्तार के साथ चर्चा करना चाहूंगा। ये दो उपन्यास हैं जैनेन्द्र का **त्यागपत्र** और अमृतलाल नागर का **बूंद और समुद्र**। इन दो उपन्यासों का चयन मैंने केवल अपनी सुविधा की दृष्टि से किया है। आप अन्य उपन्यासों को चुन सकते हैं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को लेकर नैतिक प्रश्न प्रेमचंद ने भी उठाये थे और उनको लेकर उन्होंने अपनी स्पष्ट राय और दृष्टि व्यक्त की थी। उनकी नैतिक दृष्टि बहुत कुछ परम्परागत थी और वे शारीरिक शुद्धता को बहुत महत्व देते थे। इसलिए जहां नैतिकता का प्रश्न आता है, उनके पात्र सहज, सामान्य और निश्चित आचरण करते हैं। जैनेन्द्र ने भी यौन नैतिकता के प्रश्न अपने उपन्यासों में उठाये हैं और उन प्रश्नों को लेकर उनके पात्रों का आचरण असामान्य और अप्रत्याशित है। **त्यागपत्र** में मृणाल की त्रासदी इसी असामान्यता की त्रासदी है। यह उपन्यास मूल्यों के विघटन का उपन्यास है। इसीलिए इसमें दुविधा की स्थिति है। प्रमोद और मृणाल दोनों समाज के प्रति विद्रोह करते हैं, लेकिन उसे तोड़ना नहीं चाहते। वह बना रहे, इसके लिए स्वयं नष्ट हो जाना चाहते हैं। प्रमोद कहता है—"मेरा मन रह-रह कर त्रास से भर आता है। समाज की जिस मान्यता पर मैं ऊंचा उठा हुआ खड़ा हूं, वह स्वयं किसके बलिदान पर खड़ी है, इस बात को जितना ही समझकर देखता हूं, उतना ही मन तिरस्कार और ग्लानि से घिर जाता है। पर क्या करूं? सोचता हूं, उस समाज की नींव को कुरेदने से क्या हाथ आयेगा? नींव ढीली ही होगी और ऐसे हाथ आने वाला कुछ नहीं है। यह सोच लेता हूं और रह जाता हूं। पर क्यों मैं यह नहीं जानता कि यह सब अपने को ठगना है। समाज के ऊपर चढ़ बैठकर मैं उसे दबा सकता हूं, बदल नहीं सकता। उसके फलने-फूलने का तो एक ही उपाय है, वह यह कि मैं अपने को समाज की जड़ों में सींच दूं।" जैनेन्द्र चीजों को बिल्कुल नये दृष्टिकोण से देखते हैं। सतीत्व की नयी परिभाषा करती हुई मृणाल कहती है—"जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की जरूरत मैं समझ सकती हूं, शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे मन मांगा जायेगा, तन भी मांगा जायेगा। सती का आदर्श और क्या है?" स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के यहां नैतिकता की धारणा बहुत उलझ गयी है।

प्रेमचंद की परम्परा के सन्दर्भ में जैनेन्द्र की चर्चा अप्रासंगिक लग सकती है पर वास्तव में है नहीं । वस्तुतः प्रेमचंद के द्वारा उठाये गये कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में आगे का सोच जैनेन्द्र में मिलता है । यह संयोग की बात नहीं है कि भगवतीचरण वर्मा उसी समय **चित्रलेखा** में पाप-पुण्य का प्रश्न उठाते हैं और उत्तर देते हैं कि पाप और पुण्य कोई निरपेक्ष सत्य नहीं हैं । इसके कुछ वर्ष बाद यशपाल अपने **दादा कामरेड** में स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध को शुद्ध जैविक क्रिया के रूप में ग्रहण करते हैं । बाद के उपन्यासों में यह प्रश्न बार-बार उठा है । कृष्णा सोबती ने **मित्रो मरजानी** में स्त्री के लिए यौन-तृप्ति को अनिवार्य माना है । उधर मृदुला गर्ग ने अपने विवादास्पद उपन्यास **चित्तकोबरा** में प्रेम की भावना और स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध को दो भिन्न चीजें सिद्ध किया है ।

प्रेमचंद की परम्परा के सन्दर्भ में जैनेन्द्र के **त्यागपत्र** की चर्चा विवादास्पद हो सकती है, लेकिन अमृतलाल नागर के उपन्यास **बूंद और समुद्र** की चर्चा को लेकर कोई विवाद नहीं हो सकता । इस उपन्यास की अनेक विशेषताएं ऐसी हैं जो इसे प्रेमचंद के बहुत निकट ले आती हैं इसमें जीवन का अपेक्षाकृत व्यापक चित्रण हुआ है । जैसे प्रेमचंद के उपन्यासों में अनेक कहानियां चलती हैं और जो कभी-कभी परस्पर असम्बद्ध दीखती हैं, उसी प्रकार इस उपन्यास में भी अनेक कहानियां हैं जिनमें से कुछ निरर्थक प्रतीत होती हैं । जैसे प्रेमचंद अपने उपन्यासों में अनेक समस्याएं यथार्थ ढंग से चित्रित करते हैं और उनके आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करते हैं वैसे ही इस उपन्यास में अमृतलाल नागर ने भी किया है । नागर जी ने इस उपन्यास में सामान्य आदमी की आर्थिक समस्याओं का समाधान को-ऑपरेटिव बैंक और गृह-उद्योगों के रूप में प्रस्तुत किया है । राजनीति को लेकर उनके विचार प्रेमचंद के बहुत निकट और लगभग अराजकतावादी हैं । **गोदान** के प्रो० मेहता के समान नागर साहब का विचार है कि भारत की अधोगति का एक प्रमुख कारण समकालीन राजनैतिक दल हैं । देश का हित न दक्षिणपन्थी राजनैतिक दल कर सकते हैं न वामपन्थी राजनैतिक दल, क्योंकि "आज इस देश में क्या कांग्रेस, क्या सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ, हिन्दू महासभा आदि जितनी राजनैतिक पार्टियां हैं—सब अधिकांश में एक-एक से बढ़कर बेईमान, क्षुद्र आकांक्षाओं वाले जालसाज, दम्भी और मगरूरों द्वारा अनुशासित हैं, आदर्श और सिद्धांत तो महज शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियां हैं । इनका आपसी संघर्ष अधिकतर व्यक्तिगत है । इस देश की प्रतिक्रियावादी राजनैतिक शक्तियां भारतीय परम्पराओं को केवल रूढ़ियों में देखती हैं । तथाकथित प्रगतिशील शक्तियां भी अपने देश को केवल रूढ़ियों में ही पहचानती हैं, उसकी प्रगतिशील परम्पराओं की जानकारी उन्हें नहीं है या बहुत कम है ; वे सारी प्रगतिशील परम्पराओं को केवल विदेशों ही में देखती हैं । विदेशी परम्पराओं को वे यहां की परिस्थितियों पर जबरदस्ती लादना चाहती हैं ।" तब समाधान क्या है ? समाधान है आत्मविश्वास का विकास । आत्मविश्वास का विकास चमत्कारी रामजी बाबा की शरण जाकर किया जा सकता है । यह स्वातन्त्र्योत्तर काल का नवअध्यात्मवाद है जिसकी ओर हिन्दी के अनेक लेखक भागे हैं । इस मामले में नागर साहब प्रेमचंद के बहुत पीछे

चले गये हैं। **बूंद और समुद्र** में यौन नैतिकता सम्बन्धी प्रश्न भी उठाये गये हैं। इन प्रश्नों को लेकर लेखक असमंजस की स्थिति में है। इसीलिए वह बड़ी और बोर के तथा महिपाल शुक्ल और शीला स्विंग के विवाहेत्तर यौन सम्बन्धों को दो भिन्न दृष्टियों से देखता है। एक को वह अस्वीकार करता है, दूसरे को स्वीकार करता है। **बूंद और समुद्र** का लेखक प्रेमचंद के समान ही अविस्मरणीय पात्रों की रचना कर सकता है। यदि कुछ मामलों में वह प्रेमचंद से पीछे गया है तो कुछ मामलों में वह प्रेमचंद से आगे भी बढ़ा है। प्रेमचंद के उपन्यासों में स्थानीय रंग था अवश्य, लेकिन वह बहुत गहरा नहीं था। नागर ने तथा हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने उसे बहुत गहरा किया है। इस अर्थ में हिन्दी के आंचलिक उपन्यास प्रेमचंद की परम्परा की अगली कड़ी हैं। नागार्जुन के मिथिलांचल का चित्रण करने वाले उपन्यासों, रेणु के **मैला आंचल** और **परती : परिकथा**, भैरवप्रसाद गुप्त के **सत्ती मैया का चौरा**, रांगेय राघव के **कब तक पुकारूं**, राही मासूम रज़ा के **आधा गांव**, रामदरश मिश्र के **पानी के प्राचीर** और **अपने लोग** में प्रेमचंद की परम्परा को विकसित होते देखा जा सकता है।

जो चर्चा हमने अभी की है, उससे एक बात स्पष्ट होती है कि प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास में प्रेमचंद की परम्परा ही आगे बढ़ी है किन्तु इतने स्वतन्त्र रूप में कि जब तक अति सरलीकरण न किया जाये, उसे पहचानने में कठिनाई होती है—कम-से कम मुझे कठिनाई होती है। इस चर्चा से एक और बात का भी संकेत मिलता है। वह है विशेषीकरण की प्रवृत्ति। प्रेमचंद के बाद का हिन्दी का उपन्यासकार अपने उपन्यासों के लिए देश और काल दोनों की दृष्टि से सीमित क्षेत्र चुनता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री और भगवतीचरण वर्मा के समान लम्बे इतिहास को एक शृंखला के रूप में प्रस्तुत करने वाले उपन्यास अपवाद हैं। प्रेमचंद के दिनों में ही प्रवृत्ति सूक्ष्मता की ओर होने लगी थी, यह बात स्वयं प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यासों और कहानियों से स्पष्ट है। सूक्ष्मता की यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गयी है। प्रेमचंद के उपन्यास क्लासिकल कथाशिल्प के उपन्यास हैं। उपन्यास का यह कथाशिल्प हिन्दी में निरन्तर विद्यमान रहा है। आज भी विद्यमान है। लेकिन कथाशिल्प के क्षेत्र में भी प्रवृत्ति सूक्ष्मता की ओर रही है। क्लासिकल शिल्प को प्रगतिवादी माने जाने वाले उपन्यासकारों ने अधिकांशतः अपनाया है, किन्तु उनमें ऐसे उपन्यासकार भी हैं, जिन्होंने रूपक (एलिगरी) और फन्तासी जैसे कथारूपों, और मुक्त आसंग, चेतना-प्रवाह, पूर्वदीप्ति जैसी कथा-शैलियों को अपनाया है। यह सब इसलिए हुआ है कि मध्यवर्ग से सामान्यतः आने वाले हिन्दी के उपन्यासकार की व्यक्तिवादिता क्रमशः बढ़ती और प्रखर होती गयी है। यही कारण है कि यशपाल जैसे उपन्यासकार में भी हमें व्यक्तिवादी रुझान के लक्षण मिलते हैं। आधुनिक हिन्दी उपन्यास जिस बिन्दु पर आज स्थित है उसे देखते हुए लगता है जैसे प्रेमचंद की परम्परा कमजोर पड़ रही है, खो रही है।

फणीश्वर नाथ 'रेणु' का कथा साहित्य

—हरिकृष्ण कौल

हिन्दी साहित्य में शुरू से ही दो परस्पर विरोधी कथा-प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। एक ओर गिरिजादत्त वाजपेयी की **पंडित और पंडितानी** ('सरस्वती' दिसम्बर, १९०३), बंग महिला की **दुलाई वाली** ('सरस्वती' मई, १९०७), चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की **उसने कहा था** ('सरस्वती', अक्तूबर, १९१५) जैसी दैनिक जीवन के विविध प्रसंगों के यथार्थ चित्रण के आधार पर लिखी गई कहानियां मिलती हैं तो दूसरी ओर रहस्यपूर्ण और रोमानी वातावरण की सृष्टि करने वाली और मानव जीवन के किसी गूढ़ (?) सत्य को प्रकट करने वाली किशोरी लाल गोस्वामी की **इंदुमती** ('सरस्वती', जून, १९००) या रामचन्द्र शुक्ल की **ग्यारह वर्ष का समय** ('सरस्वती', दिसम्बर, १९०३) जैसी कहानियां। इन दोनों कथा-प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपाक हमें प्रेमचंद और प्रसाद की कहानियों में मिलता है। प्रेमचंद ने यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति को सोद्देश्यता से जोड़कर हिन्दी में यथार्थवादी कथा परम्परा का सूत्रपात किया। दूसरी ओर प्रसाद ने रोमानी कथा-प्रवृत्ति का परिष्कार करके हिन्दी में भाववादी, और कुछ आलोचकों के अनुसार आदर्शवादी कथा धारा का प्रवर्त्तन किया। प्रेमचंद के कथा-संसार का इस वास्तविक संसार के साथ सम्बन्ध समाजशास्त्रीय प्रतिरूपात्मक है और प्रसाद के कथा जगत का दार्ष्टांतिक। तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद ने मनुष्य का चित्रण उसके सामाजिक और ऐतिहासिक परिवेश में करके इसी संसार को प्रतिरूपायित किया है। दूसरी ओर प्रसाद के पात्र अपने आस पास की सामाजिक परिस्थितियों से कटे केवल अपने अन्तर्जगत में विचरण करते हैं और उनकी कहानियां जीवन को प्रतिरूपायित करने के हेतु नहीं, किसी विचार या भाव के दृष्टांत-स्वरूप रची गयी लगती हैं।

प्रेमचंद हिन्दी कहानी की विकास यात्रा का वह पड़ाव है जहां पहुंच कर पहली बार उपलब्धि का एहसास होता है। उन्होंने अपने दर्जनों उपन्यासों और सैकड़ों कहानियों में उत्तर भारत के किसानों की दुर्दशा और शहरी मध्य वर्ग की कुरीतियों के यथार्थ चित्रण के साथ हिन्दी में आधुनिक कहानी और उपन्यास को भी जन्म दिया। कथ्य हो या शिल्प,

प्रेमचंद की सबसे बड़ी शक्ति उनकी यथार्थ दृष्टि है। यह यथार्थ दृष्टि न केवल प्रेमचंद द्वारा अपने समय के भारतीय समाज के अनेक वर्गों के पात्रों, उनके आपसी सम्बन्धों, उनसे सम्बद्ध विविध समस्याओं, घटनाओं, परिस्थितियों, परिस्थिति-जनित भावनाओं एवं विचारों के प्रामाणिक चित्रण में, अपितु उनकी सहज कथात्मक संरचना में, उनकी अकृत्रिम और अलंकरण-रहित शैली में, शिल्प और भाषा की सम्भावनाओं को जिये जा रहे जीवन के अन्दर से ही खोजने के उनके प्रयत्नों में दिखाई देती है। हिन्दी में प्रेमचंद के बाद उनके उत्तराधिकारियों में पहला और सबसे महत्वपूर्ण नाम यशपाल का है। स्वतन्त्रता से पहले प्रेमचंद की परम्परा में यशपाल के अतिरिक्त अमृत लाल नागर, नागार्जुन, रांगेय राघव, उपेन्द्र नाथ अश्क आदि का नाम लिया जा सकता है; और स्वतन्त्रता के बाद के कहानीकारों में फणीश्वर नाथ रेणु, भीष्म साहनी, अमरकांत, मोहन राकेश, कमलेश्वर, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, इब्राहीम शरीफ, जितेन्द्र भाटिया आदि बीसियों समकालीन लेखकों का।

प्रेमचंद की परम्परा वास्तव में कौन सी है? इस प्रश्न पर तनिक मतभेद है। कुछ लोगों की मान्यता है···चूंकि प्रेमचंद ने अधिकतर गांवों के विषय में ही लिखा है इसलिए बाद में लिखी गई ग्राम-कथाएं ही प्रेमचंद की परम्परा में आती हैं। इस मान्यता के अनुसार नगरों-महानगरों के जीवन को लेकर लिखी गई कहानियां प्रेमचद की परम्परा के प्रतिकूल जाती हैं। परन्तु तथ्य यह है कि जिस सृजनात्मक दबाव से उस महान कथाकार ने **पूस की रात, अलग्योझा, कफ़न** आदि ग्रामीण परिवेश की कहानियां लिखी हैं, उसी से **मनोवृत्ति, शतरंज के खिलाड़ी, नमक का दारोगा** जैसी शहरी जीवन की कहानियां भी रची हैं—यद्यपि ऐसी कहानियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। वास्तव में प्रेमचंद की विशेषता उनका ग्राम-चित्रण नहीं बल्कि उनकी यथार्थ दृष्टि और सोद्देश्यता है। शिल्प के स्तर पर उनकी यह यथार्थ दृष्टि सहज कथात्मक संरचना और वस्तुपरकता में झलकती है। प्रेमचंद की परम्परा वास्तव में यथार्थवादी कथा-साहित्य की बृहत् परम्परा की ही एक कड़ी है जिसमें बालज़क, डिकेन्स, टालस्टाय, चेखव, गोर्की, टामस मान आदि की रचनाएं आती हैं।

फणीश्वर नाथ रेणु हर दृष्टि से और हर स्तर पर प्रेमचंद की परम्परा से जुड़ते हैं। रेणु ने स्वयं स्वीकार किया है कि वे प्रेमचंद और टालस्टाय की किताबों से प्रेरणा पाते रहें हैं। प्रेमचंद की तरह ही उन्होंने भी मुख्य रूप से ग्रामीण परिवेश को लेकर ही कहानियां लिखी हैं। सत्य तो यह है कि प्रेमचंद के बाद रेणु ही दूसरे महत्वपूर्ण लेखक हैं जिन्होंने ग्रामीण जन जीवन को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। कथ्य या विषय चयन की दृष्टि से ही नहीं, शिल्प चेतना की दृष्टि से भी रेणु की गणना प्रेमचंद स्कूल के अन्तर्गत हो सकती है। अपनी मिश्रित शिल्प की कहानियों में भी रेणु ने कथा की सहजता और वर्णन की वस्तुपरकता को अक्षुण्ण रखा है। और भाषा के मामले में रेणु ही प्रेमचंद के परवर्ती कथाकारों में कदाचित उनके सर्वाधिक निकट हैं। प्रेमचंद की तरह ही रेण ने भी बोल चाल की चलती फिरती भाषा की सम्भावनाओं को पहचान कर अपनी रचनाओं में उसी का प्रयोग किया है। परन्तु

वर्ण्य विषय, शिल्प, या भाषा से अधिक जो बातें रेणु को प्रेमचंद की परम्परा से जोड़ती हैं, वे हैं—उनके लेखन की सोद्देश्यता, व्यक्ति को परिवेश के संदर्भ में समझने का उनका प्रयत्न, उनकी रचनाओं की समाज-सापेक्षता और उनकी यथार्थ दृष्टि। रेणु एक यथार्थवादी कथाकार हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में मनुष्य को उसके सामाजिक परिवेश में चित्रित करके इस वास्तविक संसार को ही रूपायित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने किसी 'भीतरी' सत्य का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कहानी-उपन्यास नहीं लिखे हैं। रेणु की कृतियों में हमारा परिचय लेखक के **भीतरी जगत** से न होकर **बाह्य जगत** में विचरने वाले भांति-भांति के लोगों से होता है जो परस्पर और अपने परिवेश के साथ पूरी तरह जुड़े नज़र आते हैं। रेणु के किसी भी पात्र के व्यक्तित्व से यदि दूसरे व्यक्तियों और परिवेश से प्रभावित ग्रंश को निकाल दिया जाये तो शेष कुछ भी नहीं बचेगा। उनकी समस्याएं उनके परिवेश की ही समस्याएं हैं। रेणु ने वर्ग भेद, वर्ण भेद, शोषण, गरीबी, जहालत, ऋण, बेकारी, देहाती और शहरी संस्कृति के मध्य संघर्ष, ग्राम-संस्कृति का विघटन, साम्प्रदायिकता, राजनीतिक तथा अन्य प्रकार का भ्रष्टाचार, महाजनी सभ्यता की विकृतियां आदि सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के कच्चे माल से ही अपनी कथा-स्थितियां बुनी हैं और अधिकांश कहानियों में इन समस्याओं को उन्होंने इनके सही परिप्रेक्ष्य में देखा है। इनमें जहां वर्तमान व्यवस्था के प्रति असतोष और क्षोभ के दर्शन होते हैं वहां मनुष्य की जिजीविषा तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ उसके संघर्ष में आस्था भी मिलती/जगती है।

डा० रामदरश मिश्र जैसे कुछ आलोचकों का मत है कि रेणु की अधिकांश कहानियों की धुरी प्रेम या सेक्स है, और इन तथाकथित 'सेक्स केन्द्रित' कहानियों में 'रस प्रिया', 'तीसरी कसम', 'सिरपंचमी का सगुन' आदि को गिना जाता है। (देखिए 'हिन्दी कहानी : अन्तरंग पहचान', पृ० ११६) इनमें से कुछ कहानियों में मुख्य कथा की धुरी निःसदेह प्रेम है किन्तु प्रभाव की दृष्टि से रेणु की कहानियों में मुख्य कथा नहीं, समूची कथात्मक संरचना महत्वपूर्ण होती है। और रेणु की अन्य कहानियों की तरह इन कहानियों की समग्र संरचना भी सामाजिकता की भित्ति पर खड़ी है। 'रस प्रिया' में मिरदगिया और रमपतिया के पार्थक्य का कारण मिरदंगिया की किसी भीतरी मानसिक गांठ की अपेक्षा जाति भेद का ठोस सामाजिक आधार है—"जोधन गुरु जी से उसने अपनी जात छिपा रखी थी।" मोहना मिरदंगिया का बेटा नहीं, जैसा कि डॉ० रामदरश मिश्र ने भ्रमवश निष्कर्ष निकाला है। कहने को तो मोहना का पिता बूढ़ा अजोधादास है जो मंडली की गठरी ढोता था। मगर "मोहना की बड़ी बड़ी आंखें कमलपुर के (जमींदार) नन्दू बाबू की आंखों जैसी हैं।" और कहानी में यह सकेत भी मौजूद हैं कि "रमपतिया के आंगन में नन्दू बाबू का घोड़ा बारह बजे रात को…" तात्पर्य यह कि परस्पर आकर्षण के बावजूद गरीब लोगों का जाति भेद के कारण सम्बन्ध नहीं हो पाता पर ऊंची जात के सम्पन्न लोगों की तो हर हालत में पौ बारह है। वे छोटी बड़ी जाति की गरीब औरत को आसानी से अपनी रखैल बनाकर रख सकते हैं। खैर, मोहना का पिता जो कोई भी रहा हो, वह अपनी मां रमपतिया का बेटा है। उस जैसा सुन्दर और गुणवान

बेटा पाकर उसकी मां 'महारानी' है। मोहना एक प्रकार से छोटी जाति के निर्धन लोगों के आशापूर्ण भविष्य का प्रतीक है। क्योंकि "सवर्णों के घर में नहीं, छोटी जाति के लोगों के यहां मोहना जैसे लड़की-मुंहा लड़के हमेशा पैदा नहीं होते। ये अवतार लेते हैं समय समय पर जदा जदा हि···।" 'रस प्रिया' की मुख्य कथा में निहित इस अर्थ को यदि छोड़ भी दें, तो भी उसकी पूरी कथात्मक संरचना, मुख्य नाद के साथ साथ उत्पन्न सहायक नाद, विभिन्न उपाख्यान एवं प्रसंग 'सेक्स केन्द्रीयता' के आरोप का खंडन करके उसकी समाज-सापेक्षता को रेखांकित करते हैं। परमानपुर में एक ब्राह्मण के लड़के को बेटा कहने पर पंचकौड़ी मिरदंगिया की मार पीट होना, गरीब मां के बेटे का सुन्दर और गुणवान होने के बावजूद भूखा और बीमार रहना, लोक कलाकारों को भिखारी समझा जाना—ये सारे प्रसंग दो प्रेमियों की एक कोमल कहानी को सारे परिवेश की कहानी बनाते हैं। इसी प्रकार 'तीसरी कसम' में हिरामन और हीराबाई के आकर्षण और अलगाव की नियति को ग्रामीण-सामन्ती समाज-व्यवस्था (जिसका प्रतीक गांव का मेला है जिसके बहाने दोनों का मिलन होता है) एवं महाजनी अर्थ-व्यवस्था (जिसका प्रतीक व्यावसायिक मथुरा-मोहन नौटंकी कम्पनी है जिसमें शामिल होने के लिए हीराबाई हिरामन को छोड़कर चली जाती है) के द्वंद्व के परिप्रेक्ष्य में देखना अधिक समीचीन होगा। प्रेम और अलगाव की उस कहानी को मिथक के स्तर पर खोलने वाली महुआ घटवारिन की अन्तर्कथा में भी महुआ जन जीवन की सादगी और स्वच्छता की प्रतीक है और सौदागर क्रूर महाजनी मूल्यों का। कहानी के अन्त में जब हीराबाई इसी कथा की ओर संकेत करती हुई कहती है कि "महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरु जी" तो वह इसी व्यापक सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की ओर इशारा करती है। डॉ० रामदरश मिश्र ने और तो और, 'सिरपंचमी का सगुन' को भी रेणु की उन कहानियों में गिना है जिनकी धुरी सेक्स है। वह कहानी तो स्पष्टतः नारी पुरुष के परस्पर आकर्षण की नहीं, दो पुरुषों (सिंधाय और कालू कमार) की आपसी शत्रुता की भी नहीं, अपितु बदलती हुई सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में मानव सम्बन्धों के टूटने और बनने की कहानी है। देहाती सामन्ती समाज के अपने नियम और कानून हैं। सिंधाय पूरे पांच साल तक कालू कमार का 'खैन' बाकी रखता है। न अगहनी फसल में से उसे एक चुटकी धान देता है और न रबी में मुट्ठी भर चना। कालू इस सब का बदला लेने के लिए ऐन सिरपंचमी के दिन, जिस दिन किसान जुताई का श्री गणेश करते हैं, उसका फाल टेढ़ा करता है। जाति की बंदिश ऐसी है कि गांव का ही नहीं, जिले भर का कोई लुहार या कमार ऐसे टेढ़े फाल को सीधा नहीं कर सकता है। लेकिन इन सामन्ती बंदिशों को नयी उभरती शक्तियां चुनौती देती हैं। गांव के निकट रेलवे पुल बन रहा है और सिंधाय की घरवाली रेलवे के मिस्त्रियों से टेढ़ा फाल सीधा करवाती है। सिंधाय कालू कमार को नीचा दिखाता है। मगर शीघ्र ही दोनों आपसी मन-मुटाव भूलकर साझेदारी में नया 'व्यापार' शुरू करने की बात सोचते हैं। रेलवे के मिस्त्री काम करते करते लोहे के छोटे छोटे टुकड़े पानी में डाल देते हैं—सिंधाय ने

यह बात जानकर कालू कुल्हाड़ों, भालों, सरौतों आदि की दुकान खोलने का सपना देखता है और सिधाय को नफा की रकम में चार आने रुपया के हिसाब से भागीदार बनाने का सुझाव रखता है। अर्थात् पुरानी बंदिशें धीरे धीरे ढीली पड़ रही हैं। पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था की नयी वास्तविकता रेल के ज़रिये शहरों से गांवों में पहुंच रही है। पुराने रिश्तों और मूल्यों के स्थान पर रुपये-पैसे, नफा-नुक्सान के आधार पर नये रिश्ते बन रहे हैं। परन्तु आश्चर्य है कि डॉ० रामदरश मिश्र को यह कहानी भी 'सेक्स केन्द्रित' नज़र आती है।

रेणु को प्रेमचंद की परम्परा से अलग मानने वाले उन पर यह आरोप लगाते हैं कि उनके अधिकांश प्रमुख पात्र 'अकेले' व्यक्ति हैं और आधुनिकतावादियों की तरह रेणु की रचनाओं में भी इस 'अकेलेपन' के प्रति एक अजीब तरह का मोह लक्षित होता है। **मैला आंचल** का डॉक्टर प्रशांत अकेला है, **परती : परिकथा** का जित्तन अकेला है, **जुलूस** की पवित्रा अकेली है। कहानियों में **रस प्रिया** का पंचकौड़ी मिरदंगिया अकेला है, **तीसरी कसम** का हिरामन अकेला है और **एक आदिम रात्रि की महक** का करमा भी अकेला है। रेणु के ये पात्र एक तरह से अकेले अवश्य हैं। परन्तु इनके चरित्र के विकास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए इनकी छटपटाहट ही कथा को गति देती है। आरम्भ में ये पात्र भले ही अपने अकेलेपन में कोई विलक्षण सुख अनुभव करते हों पर कथा के अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि उनकी नियति उनके आस पास के लोगों, एक बृहद मानव समाज की नियति से अलग नहीं है। **मैला आंचल** में होली के दिन डॉक्टर प्रशांत जेल काटकर गांव लौटता है तो उसे यह देखकर दुःख होता है कि गांव का कोई बच्चा उस पर रंग नहीं डालता। उसका मन यह जानकर ग्लानि से भर जाता है कि गांव वासियों के लिए वह अजनबी ही बना रहा। उसे एहसास हो जाता है कि गांव के सीधे सादे लोगों के बीच उसकी विशिष्टता उसके जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है। परन्तु जब कालीचरण अचानक "बुरा न मानो होली है।" कहकर उस पर रंग फेंकता है और "लाल सलाम ! डागडर बाबू" कहकर उसका अभिवादन करता है तो उसका मरा हुआ मन फिर से जी उठता है। इसी प्रकार **जुलूस** की दीदी ठाकुरुन, पवित्रा चटर्जी, जीवन में बहुत कुछ सहने के बाद अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि उसका भाग्य लाखों-करोड़ों दरिद्र लोगों के भाग्य के साथ जुड़ा हुआ है। भूखे-नंगे दीन-दुखियों के जुलूस में शामिल होकर ही उसके जीवन को सार्थकता मिल सकती है। **एक आदिम रात्रि की महक** का "रमता जोगी बहता पानी" अकेला लावारिस करमा भी अकेलेपन से ऊब कर किसी दूसरे व्यक्ति, किसी परिवार, किसी बस्ती और किसी समाज के साथ जुड़ना चाहता है। और जो लोग परिस्थितिवश जुड़ नहीं पाते, वे भी **रस प्रिया** के मिरदंगिया की तरह समाज के विकास और विकास की द्योतक नयी पीढ़ी के लिए मंगल कामना करते हैं।

डॉ० राम विलास शर्मा ने अपने लेख 'प्रेमचंद की परम्परा और आंचलिकता' में रेणु के लेखन पर चर्चा करते हुए उनकी यथार्थ दृष्टि में शंका प्रकट की है। (देखिए डा० शर्मा का

निबंध-संग्रह 'आस्था और सौन्दर्य' पृ० ११६-२०)। रामविलास जी के अनुसार रेणु की रचनाओं में यथार्थवाद की अपेक्षा प्रकृतवाद के दर्शन होते हैं। उनका कहना है—"उसकी ('मैला आंचल' की) चित्रण-पद्धति यथार्थवाद से अधिक प्रकृतवाद के निकट है। गतिशील यथार्थ के कौन से तत्त्व अधिक प्रगतिशील हैं, कौन से मरणशील, किन पर व्यंग्य करना चाहिए, किन का चित्रण अधिक सहानुभूति से करना चाहिए, वातावरण, घटनाओं आदि के चित्रण और वर्णन में कितनी बातें छोड़ देनी चाहिएं और कितनी का उल्लेख होना चाहिए—कथा शिल्प की इन विशेषताओं में 'मैला आंचल' का लेखक प्रेमचंद की परम्परा से दूर जा पड़ा है।" परन्तु अगले ही अनुच्छेद में डॉ० रामविलास शर्मा अपने इस मत का स्वयं खंडन करते हुए या कम से कम उसमें आंशिक संशोधन करते हुए लिखते हैं—"फिर भी 'मैला आंचल' का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो उसे प्रेमचंद की परम्परा से जोड़ता है। बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गांवों के वर्ग-संघर्ष, वर्ग शोषण और वर्ग अत्याचारों का ऐसा जीता जागता चित्रण मिलेगा। यह उसका सबल पक्ष है। कमज़ोरियों पर ध्यान केन्द्रित करके उसके इस गुण को भुला देना उचित नहीं होगा।" 'मैला आंचल' में यदि डॉ० रामविलास शर्मा को गुण और दोष दोनों नज़र आते हैं तो **परती : परिकथा** में उन्हें दोष ही दोष दिखाई देते हैं। उन्होंने साफ कहा है कि "परती : परिकथा" में 'मैला आंचल' के गुण प्रायः लुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है।" उनकी इस आपत्ति का प्रमुख कारण नायक जित्तन का चरित्र है जो विशाल परती की डेढ़ हज़ार बीघे जमीन का अकेला मालिक है और 'मूर्ख, जाहिल और दुष्ट' गांव वालों के बीच अपने को अकेला अनुभव करता है, इलियट के 'वेस्ट लैंड' के मछुआ राजा की तरह जिसका पुरुषत्व सोता ही रहता है। दूसरा और गौण कारण (या हो सकता है असल में यही प्रमुख कारण हो) यह है कि रेणु ने कम्यूनिस्टों का मज़ाक उड़ाया है। पीताम्बर झा कम्यूनिस्ट है जिसने मुसलमानों में मकबूल अर्थात् लोकप्रिय होने के लिए अपना नाम मकबूल रखा है। वह लेनिन की तरह नुकीली दाढ़ी रखता है जिसे वह कैंची-रेज़र से लेनिन की फोटो सामने रखकर, उससे एकदम मिलाकर, खुद तराशता है। उर्दू बोलने की धुन में हर अक्षर के नीचे नुक़्ता लगाता है। इस पर डॉ० रामविलास शर्मा ने टिप्पणी की है "हास्य रस की सृष्टि करने में रेणु जी थोड़ा स्वयं हास्यास्पद हो गये हैं।" इस प्रकार का सनकीपन मकबूल में ही नहीं, 'परती : परिकथा' के दूसरे पात्रों में भी मिलता है। मगर डॉ० रामविलास शर्मा को उनके सनकीपन पर कोई आपत्ति नहीं। सम्भवतः इसलिए कि इन पात्रों के साथ रेणु ने कम्यूनिस्ट होने का लेबल नहीं लगाया है। जहां तक 'परती : परिकथा' के नायक जित्तन और रेणु द्वारा उसके चरित्र के सहानुभूतिपूर्वक चित्रण का सम्बन्ध है, डॉ० राम-विलास शर्मा की आलोचना को एकदम सारहीन भी नहीं माना जा सकता। डॉ० राम विलास शर्मा ने रेणु की कहानियों के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। परन्तु जिस प्रकृतवाद का आरोप उन्होंने 'मैला आंचल' पर लगाया है वह इस उपन्यास से अधिक रेणु की दो कहानियों 'आज़ाद परिन्दे' और 'लफ़ड़ा' में दृष्टिगोचर होता है। 'आज़ाद परिन्दे' में तब भी शहरी छोकरों के आवारापन के सामाजिक कारणों की ओर संकेत मिलता है। 'लफ़ड़ा' में 'दि डायना

गेस्ट हाऊस' के रहने वालों और वहां की 'मैडम' के कुत्सित यौन विकारों को सभी संदर्भों से अलग करके जैसे पाठकों को उत्तेजित करने के लिए ही उनका चित्रण किया गया है। सौभाग्य से रेणु की चार दर्जन से अधिक कहानियों में यह अपने किस्म की एक मात्र कहानी है। अतः प्रकृतवाद रेणु के कथा-साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति न होकर उसका अपवाद है।

प्रेमचंद की परम्परा के संदर्भ में रेणु की भूमिका को डॉ० शिव कुमार मिश्र ने डॉ० रामविलास शर्मा की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा है। उन्होंने प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध की मृत्यु की तरह ही रेणु की मौत को भी एक सामाजिक हादसा माना है। (देखिए राम बुझावन सिंह तथा राम वचन राय द्वारा सम्पादित 'रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि'—पटना–१९७८–पृ० ४७) उनके अनुसार रेणु ने अपनी कहानियों में खेत खलिहानों वाले असली भारत की व्यथा कथा कही है। "उसी की आशाओं, आकांक्षाओं, उसी के स्वप्नों और संकल्पों को, बड़ी गहरी सम्वेदना के साथ, बड़ी आत्मीय शैली में, उसके एक-एक रेशे से अपनी निकट की पहचान तथा एक दम अंतरग रिश्ते को सूचित करते हुए उजागर किया है। वस्तुतः यही वह बिन्दू है जहां रेणु अपनी तमाम विशिष्टताओं के बावजूद प्रेमचंद और उनकी परम्परा से जुड़ते हैं, भारत और उसकी मिट्टी से जुड़ते हैं, और यही वह संदर्भ है जहां उनकी मौत प्रेमचंद की मौत की तरह, किसी अजनबी रचनाकार की मामूली मौत न रहकर, एक बहुत बड़ा सामाजिक हादसा बन जाती है।" डॉ० शिव कुमार मिश्र मानते हैं कि प्रेमचंद और रेणु की रचना दृष्टि में अवश्य कुछ अन्तर है। इस अन्तर को वे इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—"···प्रेमचंद के यहां ब्यौरे नहीं हैं, रेणु के यहां ब्यौरे हैं। प्रेमचंद में ग्रामीण जीवन के चटख रंग नहीं हैं, जबकि रेणु ने चटख रंगों में ग्रामीण जीवन का मिश्रण किया है। प्रेमचंद की दृष्टि मूलतः एक रचनाकार की दृष्टि रही है, जबकि रेणु के रचनाकार के साथ-साथ उनका कलाकार भी हमेशा प्रबुद्ध रहा है। दोनों के शिल्प में ही नहीं, सोच में भी कुछ अन्तर है, किन्तु ये सारे अन्तर उस शक्तिशाली हक़ीकत को नहीं दबा पाते कि रेणु भी अपने कृतित्व में मूलतः भारत के गांव और उनकी नीरस, बेजान और विकृत होती हुई जिन्दगी के प्रति 'कन्सर्न्ड' रहे हैं और प्रेमचंद भी। इस 'कन्सर्न' की तीव्रता और गहराई दोनों में समान है।"

फणीश्वर नाथ रेणु को प्रेमचंद की परम्परा से बाहर मानने वालों या उनके लेखन की सोद्देश्यता और प्रतिबद्धता में शंका करने वालों में कुछ लोग इस लिए नाराज़ हैं कि रेणु ने समाजवादी क्रांतिकारी विचारधारा का विरोध न सही एक विशिष्ट राजनीतिक दल की नीतियों और दांवपेचों का विरोध तो किया है। जिस बिहार आन्दोलन को इस पार्टी ने प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी शक्तियों का षड़यन्त्र करार दिया था, रेणु उसी में शामिल हो गये थे। (यह दूसरी बात है कि यदि रेणु जयप्रकाश बाबू की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' की त्रासद परिणति और सरकार बदलने के बावजूद कायम यथास्थिति देखने को जीवित रहते तो उनका एक और मोह भंग हो जाता।) जो भी हो, किसी राजनीतिक दल की अल्पकालिक स्ट्रैटिजि की कसौटी पर रेणु की प्रतिबद्धता को कसना और उसे खोटा करार देना, रेण के प्रति ही नहीं, समस्त जनवादी, यथार्थवादी साहित्य के प्रति अन्याय होगा। ●

आज की हिन्दी कहानी

--डॉ० अनिल गोयल

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण अर्थात् द्विवेदी-युग में हिन्दी कहानी का सूत्रपात हुआ परन्तु इसकी विकास-यात्रा का इतिहास १९१५ के आसपास मिलता है जबकि मुंशी प्रेमचंद ने हिन्दी में कहानी लेखन आरम्भ किया। प्रेमचंद पूर्व इंशाअल्ला खां (रानी केतकी की कहानी), लल्लू लाल (सिंहासन बत्तीसी), पं० गौरीदत्त (कहानी टका कमानी), गंगा प्रसाद अग्निहोत्री (सच्चाई का शिखर), पार्वती नंदन (प्रेम का फुव्वारा, मेरा पुनर्जन्म), भगवानदास (प्लेग की चुड़ैल), बंग महिला (दुलाई वाली, कुंभ में छोटी बहू) आदि कहानीकारों ने कहानियां लिखीं परन्तु इन कहानियों की संपूर्ण रचना इतनी ऐंद्रजालिक है कि उनमें यथार्थ कथानक-सृष्टि, व्यक्तिविशेष की मनोवृत्तियों का चित्रण तथा अपूर्व संवेदनशीलता का अभाव है। यह कहानियां पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं, प्रेम प्रधान हैं या फिर मात्र उपदेशात्मक।

प्रेमचंद-युग में कथाकार ने पहली बार तिलस्म की दुनिया से ऊपर उठ कर, जादुई कथानक से मुक्ति लेकर यथार्थ जीवन का द्वार खटखटाया और कहानीकार के समक्ष तीन केन्द्र-बिन्दु प्रमुख हो उठे—व्यक्ति, समाज और जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति। "बाहर क्या हो रहा है, यह हर कोई देखता है। परन्तु घर और दिल में अन्दर क्या हो रहा है, वहां प्रवेश करना, उन्हें देखना और फिर जो वहां दिखाई दे, उसे दुनिया के सम्मुख रखना आसान नहीं है। और यही समस्या है, जिसे हल करने के लिए बीसवीं सदी का कहानी-लेखक साहित्य में उतरा है।" प्रेमचंद के समकालीन कहानीकार सुदर्शन के इस कथ्य से स्पष्ट है कि इस युग की कहानी ने स्थूलता को छोड़कर सूक्ष्मता की ओर बढ़ने का प्रयास किया। बाहर से दिखने वाली मनुष्य की परिस्थितियों, मान्यताओं और संस्कारों के आवर्त्त में जो मनःस्थिति बनती है उसी का चित्रांकन कहानी का मूलाधार हो गया। आदर्श जीवन के साथ-साथ यथार्थ-जीवन की अभिव्यक्ति कहानी की नियति बन गई।

१९३६ में प्रेमचंद की मृत्यु के पश्चात् कविता की तरह कहानी प्रगतिवाद की लपेट में आई जहां जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, प्रभृत्ति कहानीकारों ने मार्क्स दर्शन से प्रभावित होकर

मनोवैज्ञानिक कहानियां लिखीं और १९४७ के उपरान्त कहानी ने कभी 'नई कहानी', 'अकहानी', 'सचेतन कहानी', 'समांतर कहानी' जैसे आंदोलनों की नारेबाजी की बाढ़ में बह-कर विकास पाया तो कभी अपने कथ्य, शिल्प और संवेदना के बदलते सूत्रों द्वारा।

पिछले तीन दशक की हिन्दी-कहानी (आज की हिन्दी कहानी) एक ऐसे क्षितिज पर पहुंच गई है जहां उसे अन्तर्देशीय ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आंका जा रहा है। आज कहानीकार ग्रामांचलों के दायरे से उभर कर नगरीय वातावरण में विचरण करता हुआ महानगरीय जीवन की विकासात्मक एवं विघटनात्मक परिस्थितियों का ब्यौरा देता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर भारतीय सभ्यता तथा सस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

कहानी के विकास-क्रम को शृंखला में बांध कर ही कहानी-साहित्य का अवलोकन किया जा सकता है न कि युगीन खेवों अथवा प्रवृत्तियों में बांट कर ; क्योंकि किसी भी नई रचनात्मक धारा का सूत्रपात बदलते हुए युग की नवीन आवश्यकताओं के कारण होता है और यह रचनात्मक धारा मूलतः पारम्परिक आदर्शों की चेतना और द्वन्द्व से जुड़ी रहती है। आज की हिन्दी कहानी प्रेमचद युगीन कहानी परम्परा के द्वन्द्व से निष्पन्न है। कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद का एक ऐसा रचनात्मक व्यक्तित्व निर्मित हुआ है जिसके द्वारा हम आज की हिन्दी कहानी का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं।

प्रेमचंद ने लगभग २२५ कहानियों की रचना की है। ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक समस्याओं के अतिरिक्त लेखक ने ऐसे प्रसंगों को कहानियों में संदर्भित किया है जो हमारे दैनिक जीवन से सम्बद्ध हैं ; जैसे—कर्त्तव्य के प्रति निर्विकार भाव, शाश्वत मूल्यों में अनास्था, संस्कारों के प्रति वितृष्णा आदि। जिस प्रकार आज हम नई कहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी आंदोलनों द्वारा स्वातन्त्र्योत्तर कहानी विकास परम्परा को अलगाते हैं वैसे ही प्रेमचंद का अपना लेखन दो भागों में विभाजित है—प्रेमचंद की आरम्भिक कहानियां और बाद की कहानियां। प्रेमचद की आरम्भिक कहानियों से अभिप्राय उन कहानियों से है जो प्रेमचंद ने आरम्भिक काल में लिखीं। इन कहानियों में प्रौढ़ता कम है क्योंकि इस समय लेखक का प्रमुख उद्देश्य कहानी को विकास देना रहा है। यह कहानियां नैतिक, पारिवारिक और आर्थिक संदर्भों से जुड़ी हैं। अतएव इनमें लेखक आदर्शोन्मुख अधिक है। यही कारण है कि इनमें द्वंद्व की स्थिरता क्षणिक है। 'मुक्तिधन', 'प्रायश्चित', 'नमक का दारोगा', 'दुर्गा का मंदिर' आदि आरम्भिक दौर की ही कहानियां हैं। दूसरे दौर की कहानियां यथार्थ मनोवैज्ञानिक धरातल पर अवतरित होती हैं। इनमें द्वंद्व की स्थिति स्थायी है। आक्रोश, खीझ, विद्रोह, विक्षोभ और दुविधा जैसे तत्व इनमें मिलते हैं। 'बेटों वाली विधवा', 'नरक का मार्ग', 'पूस की रात', 'कफन' आदि कहानियों की गणना यहां की जा सकती है।

प्रेमचंद की कहानियों में आज की कहानियों की अपेक्षा कृषक जीवन का चित्रण, ऐतिहासिक घटनाओं तथा राजनीतिक तत्वों का आधिक्य है। आज का कहानीकार अधिकतर

नगरों अथवा महानगरों से सम्बद्ध है, वह जमींदार वर्ग का चित्रण प्रेमचंद की तरह खुल कर एवं सपाट-बयानी से नहीं कर सकता। इस पर भी कुछ आंचलिक कथाकार यथा रेणु, मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी, शिव प्रसाद सिंह आदि हैं जिन्होंने ग्राम-जीवन के अंतरंग दृश्यों को प्रस्तुत किया है। यहां डॉ० वार्ष्णेय के इस तथ्य को दृष्टि से ओझल करना असंगत होगा कि "रेणु की कहानियों की तुलना प्रेमचंद की कहानियों से करना उसी प्रकार भ्रामक है, जैसे किसी तालाब को देखकर समुद्र का विश्वास कर लिया जाये।" इसमें संदेह नहीं कि रेणु ने ग्राम-जीवन की कुटिलता तथा विशेषता, रूढ़ तथ्यों तथा परिवर्तनशीलता को कहानियों में अंकित किया है परन्तु लेखक का कलात्मक आग्रह तथा सेक्स की ओर झुकाव उसे प्रेमचंद से पछाड़ देता है। इस पछाड़ को प्रेमचंद की 'घास वाली' और रेणु की 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' में आंका जा सकता है। प्रेमचंद काम-पिपासु चैनसिंह को आदर्श पुरुष बनाते हैं तो रेणु आद्यन्त कैमरामैन की तरह हिरामन की कामवृत्तियों का निरूपण करते चलते हैं।

उन ऐतिहासिक तथ्यों को आज के कहानीकार ने प्रायः नकारने का उपक्रम किया है जिन्हें प्रेमचंद ने 'रानी सारंधा', 'पाप का अग्निकुंड', 'मर्यादा की वेदी', 'राजा हरदौल' में ऐतिहासिक चरित्रों द्वारा व्यक्त किया है, इसका कारण है—द्वितीय विश्वयुद्ध तथा सन् १९४७ का विभाजन, जिसमें होने वाले मानवता विरोधी तत्वों के नग्न नृत्य तथा उससे उपजे भीषण परिणामों को आज के जागरूक कथाकार ने अपनी आंखों से देखा और भोगा है। तीसरी पार्थक्य रेखा राजनीतिक कहानियों के क्षेत्र में उभरती है। यहां अवलोकनीय है कि प्रेमचंद-युग उस राजनीतिक उथल-पुथल का युग था जबकि देश के लोग अंग्रेजों के शोषण का शिकार थे, स्वत्व का अभाव था, अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं था जबकि आज का कहानीकार उन्हीं समस्याओं को उकेरता है जोकि डेमोक्रेटिक भारत में विघटनशील राजनीति से उपजी हैं जैसे—नेतागिरी, पार्टीबाजी, घूसखोरी तथा स्वार्थान्धता से जुड़ी मनोवृत्ति।

प्रेमचंद ने अधिकांश कहानियां पारिवारिक प्रसंगों को लेकर लिखी हैं और आज के कहानीकार ने भी इस परिप्रेक्ष्य में बहुत ज्यादा लिखा है फिर भी एक अन्तर दोनों की दृष्टि में स्पष्ट लक्षित होता है। 'ईदगाह' में प्रेमचंद ने कौटुम्बिक परिवार का चित्रण और 'अलग्योझा', 'बेटों वाली विधवा' जैसी कहानियों में कौटुम्बिक परिवार का विघटन प्रस्तुत किया है जबकि आज के कहानीकार ने इस विघटित परिवार के विघटन को अनैतिक प्रेम सम्बन्धों, तीसरा आदमी, तलाक तथा आर्थिक तनावों के संदर्भ में चित्रित करने का प्रयास ['फ्रॉक वाला घोड़ा निकर वाला साईस' (गिरिराज किशोर), 'सुहागिनें' (मोहन राकेश) 'जिनके मकान ढहते हैं' (रमेश बक्षी) जैसी कहानियों में] किया है। 'सुहाग की साड़ी' जैसी कहानियों में प्रेमचंद ने दाम्पत्य चित्रण किया है और उनकी नारी विद्रोहिणी होते हुए भी एक देवी है जो आदर्शों की प्रतिष्ठा हेतु मरना-मिटना जानती है जबकि आज की कहानी की नायिका आदर्शों हेतु नहीं अस्तित्व हेतु मरती है, पति और प्रेमी को अलग-अलग कोण से देखती है यथा 'ऊंचाई' (मन्नू भंडारी), 'एक कमजोर लड़की की कहानी' (राजेन्द्र यादव) आदि

औद्योगीकरण तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों को प्रेमचद ने महसूसा परन्तु अपने आदर्शात्मक दृष्टिकोण के कारण वे यथार्थवादी मान्यताओं को प्रश्रय न दे सके। रचनात्मक स्तर पर उन्होंने जिन नए आदर्शों का उद्घाटन किया उसके बारे में न तो वे स्वयं ही संतोषप्रद उत्तर दे सके हैं, न उनकी रचनाएं ही। 'पूस की रात' कहानी में हल्कू तथा मुन्नी का द्वन्द्व उत्कर्ष पर आकर भी पाठक को संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकता—मुन्नी ने चिंतित होकर कहा—"अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी"। हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—"रात की ठंड में यहां सोना न पड़ेगा"।

कुछ ऐसे ही सकेत 'नैराश्य लीला' जैसी कहानियों में मिलते हैं जहां विधवा कैलास कुमारी के लिए मां-बाप चिंतित रहते हैं और अंत में उन्हें एक उपाय सूझता है जिसे सामाजिक निंदा के डर से मुंह पर नहीं ला सकते—"बस, एक ही उपाय है, पर उसे ज़बान पर नहीं ला सकता।"

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उस युग का कृषक-वर्ग तथा समाज अपनी ही समस्याओं से खिन्न हो उठा है परन्तु परम्परा के मोह से छुटकारा पाना उसके लिए सहज नहीं। दूसरे, आज का पाठक ऐसी कहानियां पढ़कर संतुष्ट नहीं होता उसे लगता है कि मुन्नी और हल्कू तथा हृदयनाथ के इस कथन के आगे भी कुछ है जिसे प्रेमचंद आदर्शों की सलाखों में कैद होने के कारण कह नहीं पाते जबकि आज का कहानीकार उन्हीं सकेतों से कहानी की शुरुआत करता है जहां प्रेमचंद अन्त कर देते हैं।

विधवा नारी के संदर्भ को ही लें—'अतीत' (शैलेश मटियानी), 'एक समुद्र भी' (हिमांशु जोशी), 'नन्हों' (शिवप्रसाद सिंह) जैसी कहानियों की शुरुआत इन्हीं 'उपायों' की अभिव्यक्ति से हुई है तथा इनमें विधवा नारी का सघर्ष चित्रित हुआ है जो पाठक के मन में उसकी स्थिति की वेचारगी के प्रति दया उपजाने के स्थान पर एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत कर देता है।

इस प्रकार प्रेमचंद की और आज की कहानी में कई भेद लक्षित होते हैं जिन्हें काल, परिस्थितियों तथा विकास परम्परा के अन्तर्गत आंका जा सकता है। 'कफन', 'मिस पद्मा', 'मनोवृत्ति', 'जुरमाना', 'मां' तथा 'लेखक' जैसी कहानियां हिन्दी के प्रवृत्तिगत विकास में सहायक सिद्ध हुई हैं।

'कफन' कहानी से नई कहानी की शुरुआत मानी जाती है। "कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढांकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए"।... "और क्या रखा रहता है? यही पांच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा दारू कर लेते।" यह उदाहरण एक ओर सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के प्रति जनमानस का अन्तर्विरोध दर्शाते हैं तो दूसरी ओर अस्तित्व चेतना की जागृति और उस मृत्युबोध का साक्षात्कार करवाते हैं जो सातवें दशक की हिन्दी कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति है।

आज के नगरीय तथा महानगरीय जीवन में शिक्षा की प्रचुरता होने से वहां के जीवन में बदलाव आया है और इस बदलाव के साथ-साथ पारम्परिक मूल्यों के प्रति नकारात्मक बोध पनपा है और विशेषतया नारी जीवन में प्रतिस्पर्धा की भावना उन्मुख हो उठी है। वह नौकरी करके स्वच्छन्द जीवन जीना चाहती है और विवाह संस्था को सामाजिक 'पास' के अतिरिक्त कुछ नहीं समझती। इस संदर्भ में अनेक कहानीकारों ने कहानियां लिखी हैं जिनमें पढ़ी लिखी युवतियां स्वच्छन्द जीवन की चाह में नौकरी करती हैं तथा 'स्टेटस' बनाने की इच्छा से घर-परिवार से अलग रहती हैं परन्तु इन नारियों की विडम्बना यह है कि वे शीघ्र ही जीवन की एकरसता से ऊबने लगती हैं और एक पुरुष की तलाश में या तो भटकती रहती हैं अथवा 'गैर-स्टेटस' वाले व्यक्ति को समर्पित हो जाती हैं जैसा कि 'पूर्ति' (उषा प्रियंवदा), 'छोटी इ' (हिमांशु जोशी), 'पराया चेहरा' (स्वदेश दीपक) में हुआ है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो कहानी के इस पक्ष की शुरुआत आज की कहानी से नहीं प्रेमचंद की कहानी 'मिस पद्मा' से हो जाती है। नायिका पद्मा विवाह को मात्र अप्राकृतिक बंधन समझती है क्योंकि उसे पराधीनता से घृणा है। एक स्टेटस को पाकर पद्मा को वही नीरसता कचोटने लगती है जिसकी आरम्भ में उसे तमन्ना थी। अतः वह शराबी और एय्याश प्रसाद को पति-पुरुष स्वीकार कर अप्राकृतिक बंधन में बंध जाती है। मन्नू भंडारी की 'कमरा-कमरे-कमरा' भी इसी कोटि की कहानी है।

प्रेमचंद युग इस बात का साक्षी है कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति तब तक हिन्दी साहित्य में प्रस्फुटित नहीं हुई थी। प्रेमचंद ने स्वयं मनोविज्ञान का सैद्धान्तिक अध्ययन नहीं किया था लेकिन मानव-मन की सूक्ष्म पर्तों को उन्होंने कहानियों में उकेरा है। अपने युग की छोटी-छोटी समस्याओं का उन्होंने कथानक के लिए चयन किया है। उनकी 'मनोवृत्ति' कहानी नितान्त मनोवैज्ञानिक है। गांधी पार्क के बिल्लौर बेंच पर सोयी नवयुवती को देखकर युवक वृंद, वृद्ध तथा महिलाओं का वेश्या, फार्वर्ड और कुलवधु होने का अनुमान लगाना मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल है और यह भी कम रोमांचक नहीं है कि वह युवक उसका होने वाला पति तथा वृद्ध ससुर है। स्पष्ट लक्षित है कि जिस मनोवैज्ञानिक कहानी का विकास प्रगतिवादी युग में यशपाल, जैनेन्द्र से माना जाता है उसका प्रस्फुटन प्रेमचंद की कहानी-कला में भी मिलता है।

'मां' और 'ममता' कहानी में माता की हृदय-विदारक स्थिति आज की कहानियां 'चमड़े का खोल' (मेहरून्निसा परवेज) और 'चिट्ठियों के बीच' (रामदरश मिश्र) में यथावत देखने को मिलती है और 'बूढ़ी काकी' की तरह सास-बहू की कलह का चित्रण 'नालायक बहू' (मंजुल भगत) जैसी कहानियों में उपलब्ध होता है। हां अंतर यह रहता है कि उस कहानी में बहू वाक-पटु थी आज की कहानी की सास उसी मात्रा में परम्परावादी है।

घटना की प्रधानता, वातावरण का सहज निर्माण, उद्देश्यगत सजगता तथा इतिवृत्ति की स्पष्टता आदि कारणों से आज की कहानी का पाठक वर्ग प्रेमचंद की कहानियों के साथ सुलभता से तादात्म्य नहीं कर पाता अथवा आज की कहानी की मात्रा में यह कहानियां उसे

रोचक नहीं लगतीं—इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। परन्तु इस तथ्य को भी झुठलाया नहीं जा सकता कि प्रेमचंद ने हर संभव प्रयास द्वारा युगीन परिस्थितियों तथा सामाजिक एवं आर्थिक तनावों से अनुभवों को संगठित करके तथा अंग्रेजी और उर्दू जैसी भाषाओं के शब्दों का आवश्यकतानुसार चयन करके तद्युगीन कहानी-कला को विकासमान किया तथा आज की कहानी के लिए कुछ प्रतिमान स्थापित किए। यद्यपि आगामी विकासात्मम दौर में कहानी और-और आंदोलनों की प्रक्रिया से गुजरेगी अथवा नयी प्रवृत्तियों को आत्मसात करेगी तथापि प्रेमचंद की कहानी कला आधार रूप में कहानीकारों और पाठक-वर्ग को प्रभावित करती रहेगी।

●

प्रेमचंद को देन

—डॉ० शशिभूषण सिंहल

हिन्दी उपन्यास का जीवन-काल सौ वर्ष का होने आ रहा है किन्तु इसकी प्रौढ़ता का समय प्रेमचंद से आरम्भ होता है। मुंशी प्रेमचंद ने उर्दू में लिखना आरम्भ किया था। धीरे-धीरे वे हिन्दी में आ गए थे। १६१६ में उनका उपन्यास **सेवासदन** हिन्दी में प्रकाशित हुआ और आलोचकों ने उसे उस समय का, हिन्दी का, सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा था। हिन्दी जगत् में सम्मान पा कर प्रेमचंद ने उसी को अपना लिया था। उनका अतिम, पूर्ण, उपन्यास **गोदान** है जो सन् १६३६ में प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार हिन्दी में बीस वर्ष से अधिक उनका लेखन-काल रहा है। अपनी असाधारण प्रतिभा से इस क्षेत्र में वे पूरी तरह छा गए थे। यह काल हिन्दी उपन्यास में प्रेमचंद-युग के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र में प्रेमचंद का नेतृत्व इतना प्रभावी रहा है कि उनके युग के उपन्यासकार आज भी रचना कार्य में रत हैं और पाठकों द्वारा रुचिपूर्वक पढ़े जाते हैं। भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर प्रेमचंद-युग के ऐसे ही उपन्यासकार हैं। तात्पर्य है प्रेमचंद अपने योगदान के बल पर आज साठ वर्ष बाद भी, किसी न किसी रूप में, रचना जगत् में भुलाए नहीं जा सकते।

उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद की सबसे बड़ी देन है उसे घटना-प्रधानता से छुड़ाना और मनोरंजन मात्र के स्तर से ऊपर उठाना। उनसे पहले हिन्दी में घटना-प्रधान मनोरंजक उपन्यासों की धूम थी, या उपदेश प्रधान उपन्यास थे। प्रेमचंद ने प्रत्यक्ष उपदेश देने का कार्य भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उपन्यास की अपनी महत्त्वपूर्ण परिभाषा दी जिसने उसका नया स्वरूप निर्धारित किया। उन्होंने कहा, "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं।" इस परिभाषा में प्रधानता घटना या कथा को नहीं दी गई है। मूल महत्त्व मनुष्य या पात्र के चरित्र का स्वीकार किया गया है। मानव-चरित्र से आशय है मनुष्य का स्वभाव। यह उसके मन के भीतर परत-दर-परत कहीं गहराइयों में छिपा रहता है। इसे बाहर लाने के तीन तरीके हैं। एक तरीका है, पात्रों के कथनों द्वारा उनके स्वभाव को उजागर करना। दूसरा तरीका है, उनके कर्म या गतिविधि से उनकी विशेषताओं को पहचानना। और तीसरा तरीका है, उनके विचारों से, उनके चिंतन से उनके भीतर घटने वाले घटना-संसार

को पहचानना। प्रेमचंद ने इन तीनों तरीकों का उपन्यास में प्रयोग किया है। ये तीनों बातें पात्रों के किसी परिस्थिति में पड़ने पर सामने आती हैं। परिस्थिति का अर्थ है घटना, या किसी उल्लेखनीय काम का होना।

प्रेमचंद के उपन्यासों में पात्रों के चरित्र से घटना बनती है, और उन घटनाओं से पात्रों के चरित्र अधिक स्पष्ट होते या खुलते जाते हैं। कह सकते हैं कि पात्र और घटना आपस में घात-प्रतिघात करते हुए कथा का विकास करते हैं। प्रेमचंद कथा को पात्रों के जीवन की किसी बड़ी समस्या से बांध देते हैं। समस्या के आरंभ, विकास और उसके हल होने या उसके चरम विकास के बिन्दु पर ले जा कर कथा को वे पूर्ण करते हैं। प्रेमचंद ने चरित्र को महत्त्व दिया, समस्या से जोड़ कर कथा को सुगठित किया और संवाद, वर्णन तथा लेखन शैली में परिष्कार कर हिन्दी उपन्यास को गौरव प्रदान किया।

प्रेमचंद के पूर्ण रचित उपन्यास दस हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं—सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, गबन, रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान। इनमें प्रेमचंद ने भारत के साधारण जन के सुख-दुख की विशेष चिन्ता की है। उनकी दृष्टि भारत की राजनीतिक पराधीनता, आर्थिक विषमता और सामाजिक संस्कार-विहीनता पर है। इन तीनों के विरुद्ध उन्होंने जिहाद छेड़ा है। समाज में इन विशेषताओं के कारण जो लोग पीड़ित हैं उनको उन्होंने गहन करुणा दी है और जो तत्त्व उनका शोषण कर रहे हैं, उनका विश्लेषण करते हुए उन पर उन्होंने गहन व्यंग्य किया है। प्रेमचंद की सभी कथाओं, चाहे वे उपन्यास हों या उनकी कहानियां हों, में उनकी ये दो मूल संवेदनायें बराबर पाई जाती हैं। जहां वे पीड़ितों को करुणा देते हैं, वहीं दबे स्वर में मन्द-मन्द उनका व्यंग्य पीड़कों के प्रति व्यंजित होता रहता है। इसी प्रकार, जहां वे पीड़कों पर प्रखर व्यंग्य करते हैं उसकी तह में पीड़ित मानवता के प्रति उनकी करुणा भावना व्यक्त होती चलती है।

प्रेमचंद ने समाज में आर्थिक दृष्टि से पीड़ित किसानों को और सामाजिक दृष्टि से दलित नारी को अपनी करुणा विशेष रूप से दी है। उन्होंने नारी का चित्रण सेवासदन, गबन तथा निर्मला में अधिक हार्दिकता से किया है। किसानों की दीन दशा के प्रति उनका ध्यान प्रारम्भिक उपन्यास **वरदान** में गया है। वरदान में युवती विरजन नगर से ससुराल के गांव में जा कर, वहां से गांव के जीवन के विषय में अपने पति को पत्र लिखती है। इन पत्रों में नगर की एक भावप्रवण युवती मार्मिक दृष्टि से ग्रामीण जीवन की आलोचना करती है। प्रेमचद ने किस ममता से और गहरी आलोचनात्मक दृष्टि से अंत तक हमारे गांवों को परखा है, यदि यह बात जाननी है तो उसके मूलरूप को पहचानने के लिए वरदान में प्रस्तुत विरजन के पत्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाना चाहिए। मानो ये पत्र ही आगे चलकर उनकी रचनाओं में कथा रूप में, विधिवत् अनूदित हुए हैं।

(प्रेमचंद ने किसानों की करुण दशा का चित्रण वरदान, प्रेमाश्रम, कायाकल्प, कर्मभूमि तथा गोदान में किया है। **प्रेमाश्रम** में दिखाया गया है कि स्वार्थी निर्मम एवं शोषक जमींदार

किन-किन विधियों से किसानों के अधिकारों का हरण करता है। किसानों में दो तरह के लोग हैं। एक वे हैं जो पिसते हुए दुःखी रहते हैं किन्तु इस दुःख को अपने भाग्य का फल मानकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। दूसरे, जो नयी पीढ़ी के गर्म-मिज़ाज़ के लोग हैं, जो टूटते हुए भी झुकना नहीं जानते। वे जमींदार और सरकार के मिले-जुले षड़यन्त्र का डट कर मुकाबला करते हैं। इस लड़ाई में पूरा गांव ही जेल चला जाता है। अन्ततः सत्य की विजय होती है। गांव वाले मुकद्दमे में बरी होते हैं और नयी पीढ़ी का दूसरा जमींदार किसानों को जमींदारी से मुक्त करता है। कायाकल्प और कर्मभूमि में भी इसी प्रकार निर्मम सत्ता से जूझते हुए किसान दीख पड़ते हैं। एक ही आशा बंधती है कि वे जीतेंगे और उन्हें न्याय मिलेगा।

गोदान उपन्यास में आकर जीवन के यथार्थ से अधिक परिचित होने के कारण प्रेमचंद की आशावादिता चुक गई है। उन्होंने दिखाया है कि किसान होरी निरन्तर अथक परिश्रम करने पर भी भूखा का भूखा है। उसका घर में एक गाय ले आने का स्वप्न, स्वप्न ही रह जाता है, ऊपर से बदले में, वह अपनी मर्यादा और सुख-सन्तोष, सभी कुछ खो बैठता है। उसके प्राण चले जाते हैं। गाय पाना तो दूर, उसकी मृत्यु पर 'गोदान' की बात चलती है और वह भी अधूरा रह जाता है। शोषित किसान की दारुण दशा पर मार्मिक व्यंग्य **गोदान** में द्रष्टव्य है।

कहा जा चुका है, करुणा प्रेमचंद के मन में, पीड़ितों के प्रति है और व्यंग्य पीड़कों के प्रति। इस संवेदना से वे दुनिया को सहज बनाना चाहते हैं, उसके अभाव को दूर करना चाहते हैं। अभाव को दूर करने के बाद भाव की स्थिति आती है; फिर वे मानव सम्बन्धों को प्रेम-भाव से भरने का प्रयत्न करते हैं। प्रेमचंद द्वारा चित्रित इस भाव को हम यहां उनकी उल्लेखनीय रचनाओं से, सूत्र-रूप में, प्रस्तुत करते हैं।

प्रेम का अर्थ है—प्रगाढ़ आत्मीयता, जो प्रिय पर निछावर होने की कामना जगाती है। यह प्रेमी और प्रिय का द्वैत भाव दूर कर उन्हें अभिन्न बनाती है। विश्व-प्रचेतना विविध प्राणियों का रूप भरकर अनेक नाम धारण किए हुए है। ये असंख्य नाम रूपधारी प्राणी पृथक् अस्तित्व अनुभव कर, उसके रक्षण के लिए परस्पर टकराते रहते हैं। फिर भी, दृष्टिगोचर होने वाली इस अनेकता के मूल में एकता भी कहीं विद्यमान है। वही प्राणियों के अहं को कभी-कभी शिथिल कर, उनके हृदयों को निकट लाकर उन्हें प्रगाढ़ बनाती है। यह प्रगाढ़ता यह प्रेम, वास्तव में अनेक दीख पड़ने वाली विश्वचेतना की सहज परिणति है। इसीलिए अगणित विकर्षणों के मध्य, अवसर पाते ही, मनुष्य में प्रेम की सहचरी कोमलता स्वतः ही जाग उठती है। प्रेमचंद 'शंखनाद' कहानी में कहते हैं—'जिस तरह पत्थर और पानी में आग छिपी रहती है, उसी तरह मनुष्य के हृदय में भी—चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यों न हो—उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते हैं।' इस कोमल भाव को, प्रेम को, प्रेमचंद का कलाकार कथाओं में उद्घाटित और पुष्ट करने में निरन्तर रत रहता है।

प्रेम का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' में एक पात्र से कहलाया है—"प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शान्त, स्थिर उद्गारहीन समावेश है। उसमें दया और

क्षमा, श्रद्धा और वात्सल्य, सहानुभूति और सम्मान, अनुराग और विराग अनुग्रह और उपकार सभी मिले होते हैं।" प्रेम मनुष्य में उदात्त तत्त्व जगाता है और 'स्व' का 'पर' के लिए विसर्जन करने को तत्पर रहता है। किसी वस्तु को पाने-मात्र-की, उसके वशीकरण की इच्छा प्रेम से सर्वथा भिन्न है। वे 'प्रेमाश्रम' में लिखते हैं—'इस इच्छा और प्रेम में बड़ा भेद है, इच्छा अपनी ओर खींचती है, प्रेम स्वयं खिच जाता है। इच्छा में ममत्व है, प्रेम में आत्म-समर्पण।'

प्रेमचंद ने प्रेम की खोज जीवन के सभी क्षेत्रों और सभी प्राणियों में की है। यदि अबोध कहे जाने वाले प्राणियों को ही लें, तो देखते हैं कि **दो बैलों की कथा** कहानी में पशु बैल स्वामी के प्यार को पहचानते हैं। पराये घर बलपूर्वक रखे जाने और वहां स्नेह न पाने पर वे भांति-भांति के कष्ट सहन कर, अन्त में मालिक के घर पहुंच कर, आश्रय पाकर ही दम लेते हैं। कहानी में पशु-मनोविज्ञान का मनुष्यवत् विवेचन मार्मिकता से हुआ है। बैलों का आत्म-सम्मान, विद्रोह, बन्धुत्व और स्नेह का भाव प्रेम के साथ जुड़कर पाठक के मन को बांध लेता है।

पूस की रात में प्रचण्ड शीत के कष्टों में कुत्ता जबरा मालिक के साथ है। मालिक, किसान हल्कू, खेत की रखवाली करते समय निर्मम शोषक-मानव-समाज की चोट खाये हुए असह्य सर्दी झेल रहा है। मनुष्य उसका साथी नहीं है ; मन की बातें वह केवल दुःख के साथी जबरा से कर पाता है। सर्दी से घबराकर वह उसे गोद में सुला लेता है। उस आत्मीय की दुर्गन्ध भरी देह से चिपट कर उसे निराला सुख मिलता है और 'जबरा' शायद समझ रहा था कि सुख का आगार स्वर्ग यहां है।'

प्रगाढ़ प्रेम किसी बन्धन की सीमा को नहीं मानता। 'कामना-तरू' में प्रेम प्रेयसी का अमर प्रेम है। वे मृत्यु के बाद भी चिड़िया-चिरौटे के प्रेमी युगल के रूप में नया जन्म लेते हैं। कहानी की यह अतिभौतिक कल्पना प्रेमचंद की इस मान्यता की पुष्टि करती है।

बच्चा अबोध प्राणी है। उसकी कच्ची बुद्धि होती है किन्तु मन की वाणी वह तथाकथित बुद्धिमानों से अधिक सुन पाता है। 'महातीर्थ' में नन्हा बच्चा अपनी दाई के स्नेह से बंधा हुआ है। बच्चे की मां के दुर्व्यवहार के कारण दाई विवश हो कर नौकरी छोड़ तीर्थ-यात्रा के लिए सन्नद्ध होती है। इधर बच्चा उसके वियोग में हुड़ककर मरणासन्न हो जाता है। खबर पाने पर दाई तीर्थ-यात्रा छोड़ बच्चे को गले लगाकर प्रेम के उस 'महातीर्थ' पर पहुंचती है। **गोदान** में दुर्बल मां झुनिया के दूध न होने के कारण नवजात शिशु बिलखता है। वात्सल्य के आवेग में, प्रौढ़ा स्त्री चुहिया की छाती में उसके लिए अकस्मात दूध उतर आने की अलौकिक घटना घटती है।

प्रेमचंद ने वात्सल्य की मनोरम झांकियां भी प्रस्तुत की हैं। 'कर्मभूमि' में कुछ मास का नितान्त अबोध शिशु बाबा की मूंछें पकड़कर खींच लेता है और बाबा भी उसे 'कसकर एक घूंसा' जमाते हैं। पिता के धमकाने पर बच्चा उलटे उसकी नाक पकड़कर निगल जाने की

कोशिश करता है। पत्नी पति से हंसकर कहती है—"पहले अपनी नाक बचाओ फिर बाप की मूंछें बचाना"। यह बाल-लीला का संक्षिप्त प्रसंग सारे परिवार को प्रफुल्ल आत्मीयता से भिगो देता है। विपन्न अबोध बालक हामिद ईदगाह के मेले में साथियों से अलग खिलौनों-खानों का लालच जब्त कर अपनी तीन पैसों की पूंजी से दादी के लिए चिमटा ले आता है, क्योंकि उनकी उंगलियां तवे से जल जाती थीं। (**ईदगाह** कहानी) बच्चे हामिद ने समझदार बूढ़े की भूमिका निभाई थी और बुढ़िया दादी उसकी भावना से द्रवित हो बालिका की भांति रो रही थी। 'कज़ाकी' में बालक की स्नेहमय चपरासी के प्रति अक्षुण्ण ममता है। 'प्रेरणा' में अध्यापक का निश्छल स्नेह पाकर शरारती लड़का भी सुधरकर उन्नत होता है।

स्त्री-पुरुष में परस्पर प्रबल आकर्षण-भाव होता है। यह शरीर के स्तर से उठकर मन का अटूट सम्बन्ध बन जाने पर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचद ने कहानी-उपन्यासों में अनेक प्रेम कथाएं संजोई हैं। उन कथाओं में पात्रों के तन की सीमाओं से ऊपर उठकर उनके मन को छू पाने का भरसक प्रयत्न है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेमचंद उन्हें विषम परिस्थितियों की अग्नि-परीक्षा से गुजारना आवश्यक समझते हैं। प्रेम का परिणाम विवाह हो सकता है, किन्तु प्रेमचंद की कामना है कि किसी भी विवाह का परिणाम पति-पत्नी का प्रेम होना चाहिए। विवाह की चरम परिणति प्रेम में ही है। (द्रष्टव्य—शान्ता तथा ईसाई लेडियों का संवाद : 'सेवासदन'—परिच्छेद—४२)—विवाह का लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति या जीवन सुविधाएं जुटाना-मात्र नहीं है ; वह वास्तव में पति-पत्नी के आत्मभाव के विकास का साधन है। प्रेम, प्रदर्शन नहीं चाहता। यदि वह बाहर जताया जायेगा, तो मन के भीतर नहीं रह पायेगा। प्रेम का अंकुर रूप में है, पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है। (**दो सखियां** कहानी)

इन कथाओं में कोई बाधा आकर प्रेम के स्वरूप को निखारती है : 'वरदान' में विरजन और प्रताप में मूक प्रेम है। विरजन का विवाह अन्यत्र हो जाने पर दोनों अन्ततः त्याग-विराग का मार्ग अपनाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में श्रद्धा का पति में अनन्य भक्तिभाव है। वह पति की समुद्र पार विदेश यात्रा के कारण उसका प्रायश्चित्त अनिवार्य समझ कर उससे दूर रहती है। वर्षों के दीर्घ अन्तर्मंथन के उपरान्त वह 'धर्म पालन' का भ्रम त्याग, सदाशयी पति के चरणों में सिर रख देती है। 'कायाकल्प' में रानी देवप्रिया प्रेम में वासना की अधिकता के कारण दण्डस्वरूप पति-सहित अनेक जन्म लेती है। वह वासना से निष्कलुष होने और अगले जन्म में पति को प्राप्त करने की प्रतीक्षा करती है। 'गोदान' में प्रबुद्ध, अभिजात वर्गीय मालती-मेहता की प्रेम-कथा स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण की शाश्वत कथा है। मालती मेहता से कहती है—"मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूं। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है।··· उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।" नारी-पुरुष की यह अन्तर्यात्रा ऊर्ध्वगामी होने के कारण शारीरिक, पारिवारिक गठबन्धनों के पड़ावों पर ही थमकर आत्म-विकास के उच्चतम शिखरों को छूने लगती है। (द्रष्टव्य, अन्य प्रेम

कथाएं : 'रंगभूमि' में विनय-सोफिया, 'कायाकल्प' में चक्रधर-मनोरमा तथा हरिसेवक-लौंगी, 'कर्मभूमि' में अमरकान्त-सकीना आदि)

प्रेमचंद ने गृहस्थ-जीवन में संघर्षों के बीच पति-पत्नी के पलते पुष्ट प्रेम को भी चित्रित किया है। 'गोदान' में होरी-धनिया अभावों से जूझते, झींकते-झगड़ते हुए भी भीतर ही भीतर, परस्पर अधिक कोमल और समर्पित होते जाते हैं। इसी प्रकार परिवार और सम्मिलित परिवार में प्रेम-भाव पर प्रेमचंद ने बल दिया है। उनके प्रिय पात्रों में पारिवारिक जीवन की अक्षुण्णता के प्रति परम अनुराग है। वे पात्र किसी कीमत पर भी इस आत्मीयता को भंग नहीं होने देते। इसके भंग होने पर उनका दिल टूट जाता है। 'अलग्योझा' में विमाता के अत्याचार सहकर भी रग्घू, उसके विधवा होने पर उसकी तथा सौतेले भाई-बहनों की प्राणपण से रक्षा करता है। पत्नी के दुराग्रह के कारण अलग्योझा हो जाने पर वह दुःख में जीवन तक खो देता है। उसकी टेक सौतेला भाई भी बाद में निभाता है। 'प्रेमाश्रम' में लाला प्रेमशंकर का कुटुम्ब-प्रेम भी दर्शनीय है।

घर के प्रसंग में घर का स्वामित्व भी आता है। व्यक्ति घर में दूसरों के आश्रित रहकर अपने व्यक्तित्व की सार्थकता अनुभव कम कर पाता है, स्वामित्व प्राप्त होने पर उसे नये उत्साह एवं उत्तरदायित्व का बोध होता है। 'स्वामिनी' कहानी में ससुर से घर का स्वामित्व मिल जाने पर रामप्यारी वैधव्य को भूल जाती है। उस पर ममत्व का नशा छा जाता है। 'स्वामित्व' के कवच पर धौंस, ताने, धमकी—किसी का असर नहीं होता। उसकी स्वामिनी—कल्पना—इन आघातों से और भी स्वस्थ होती है कि वह गृहस्थी की संचालिका है। सभी अपने-अपने दुःख उसी के सामने रोते हैं, पर जो कुछ वह करती है, वही होता है ; इतना उसे प्रसन्न करने के लिए काफी है।

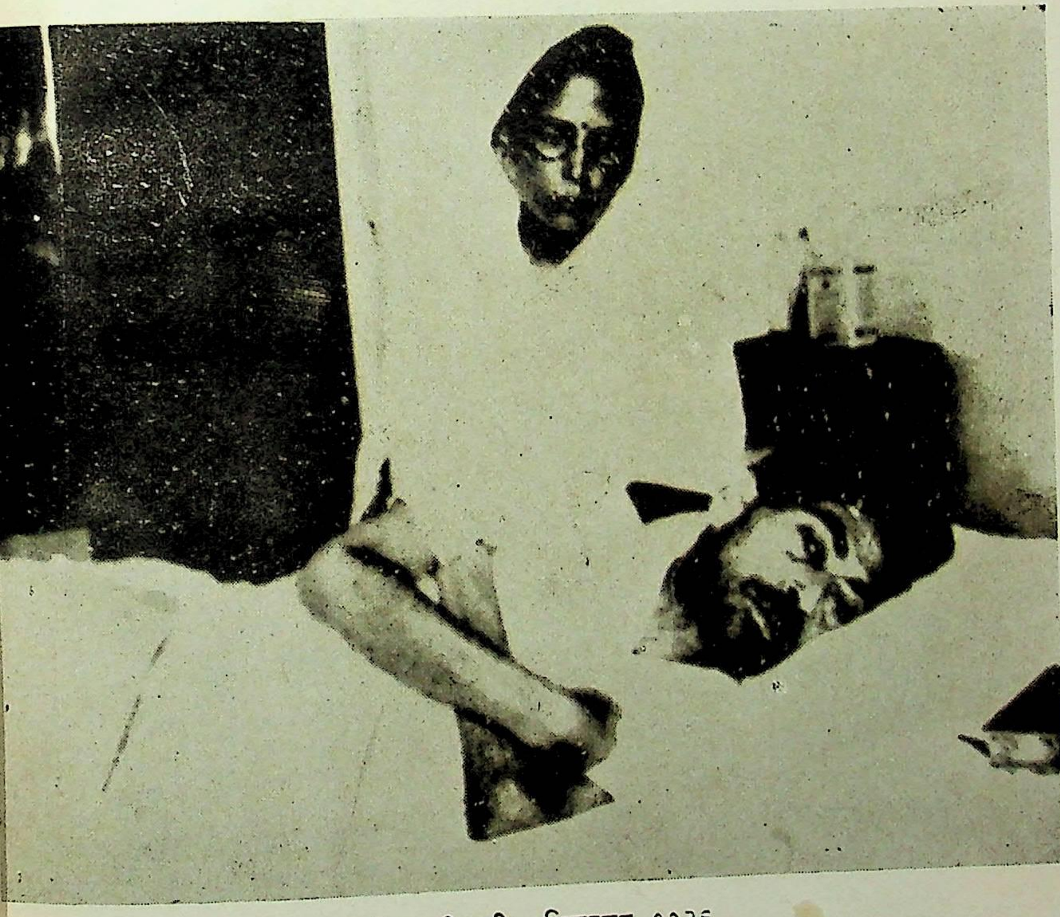
देश-प्रेम की प्रेमचंद-साहित्य में अनेक विधियों से अभिव्यक्ति हुई है। उसके आगे व्यक्ति के स्वार्थ बौने हो जाते हैं। 'यह मेरी मातृभूमि है' का भारतीय नायक अमरीका में बस गया था। उसका सम्पूर्ण सम्पन्न परिवार वहीं है। फिर भी जीवन के अन्तिम छोर पर पहुंच कर उसकी मातृभूमि-दर्शन की बलवती इच्छा उसे भारत खींच लाती है। गंगा के समीप उसे अनुभव होता है—"हां अब मैं अपने देश में हूं। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गंगा मेरी माता है।" वह गंगा के किनारे कुटी में अकेला बस जाता है।

मनस्वी व्यक्तियों को प्राणों से अधिक अपना मान प्यारा होता है। आन के लिए वे बड़े से बड़ा कष्ट हंसकर उठा लेते हैं। सारन्धा (रानी सारन्धा कहानी) रण में पीठ दिखाकर लौट आये भाई की भर्त्सना कर उसे तत्काल युद्ध-भूमि में लौटने की प्रेरणा देती है। पूरी कहानी में उसकी आन की बान की क्रमशः छः घटनाएं हैं। अन्त में वह पति-सहित शत्रुओं से घिर जाने पर पति के और स्वयं अपने प्राण लेकर गौरव की रक्षा करती है। आन पर प्राण देने वाले व्यावहारिक दृष्टि से असफल रहते हैं, परन्तु प्रेमचंद की दृष्टि में उनके प्रति अपूर्व

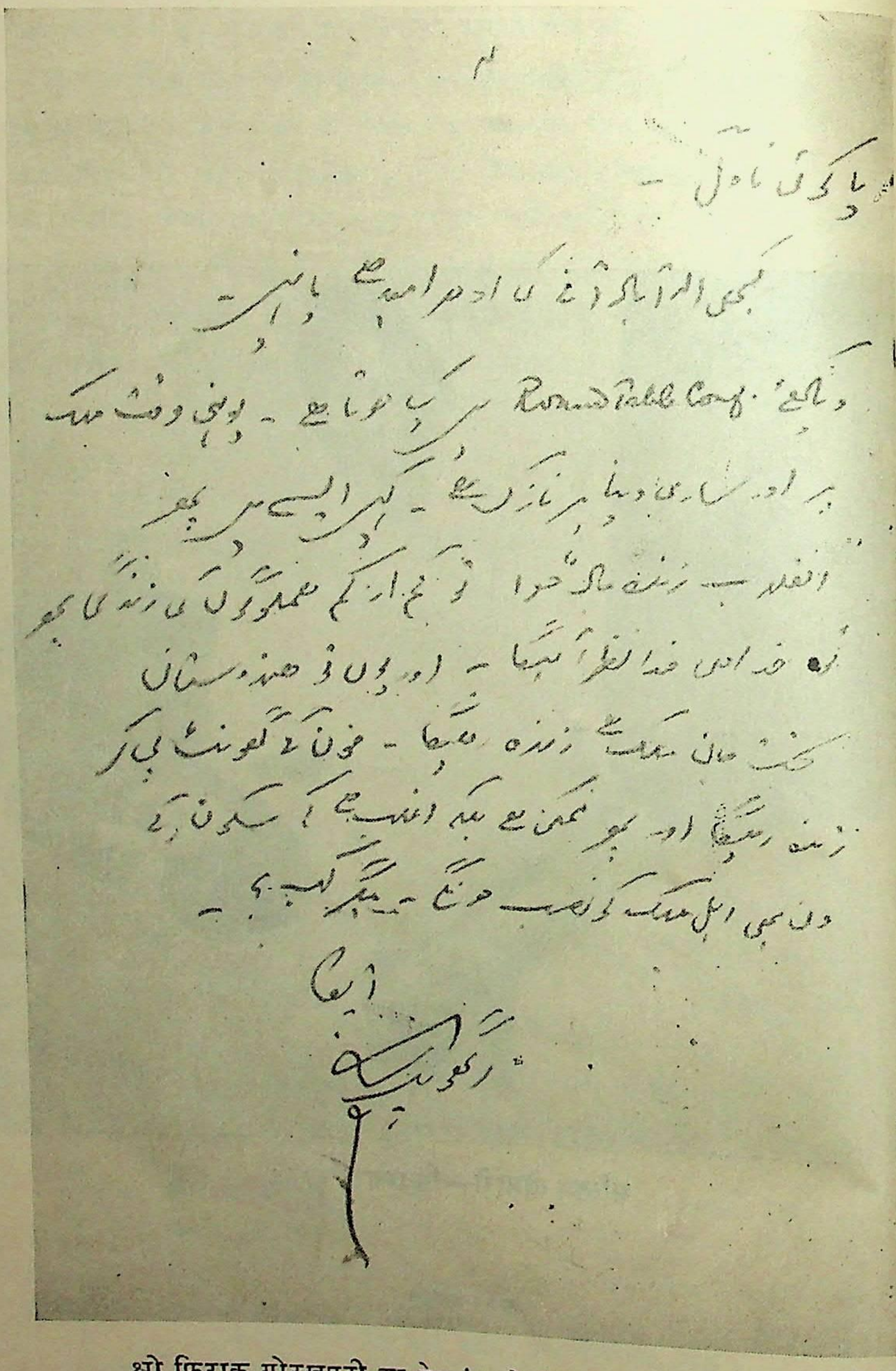
आदर-भाव है। वे लिखते हैं—'अगर अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो आन पर जान देने वाला, मुंह न मोड़ने वाला सिपाही राष्ट्र के भाव को उच्च करता है।'

प्रेम निर्वैयक्तिक होकर समष्टि में व्याप्त होने पर कर्त्तव्य-प्रेम या समाज-सेवा का रूप धारण कर लेता है। कर्त्तव्य-प्रेम पर जीवन निछावर करने वालों का प्रेमचंद ने बड़े चाव से चित्रण किया है। अमृतराय (प्रतिज्ञा), पद्मसिंह (सेवासदन), प्रेमशंकर (प्रेमाश्रम), सूरदास, विनय (रंगभूमि), चक्रधर (कायाकल्प), अमरकान्त, शान्ति कुमार (कर्मभूमि), मेहता (गोदान) आदि को ऐसी कोई-न कोई धुन है, जिसमें रम कर वे जीवन को सार्थक बनाते हैं।

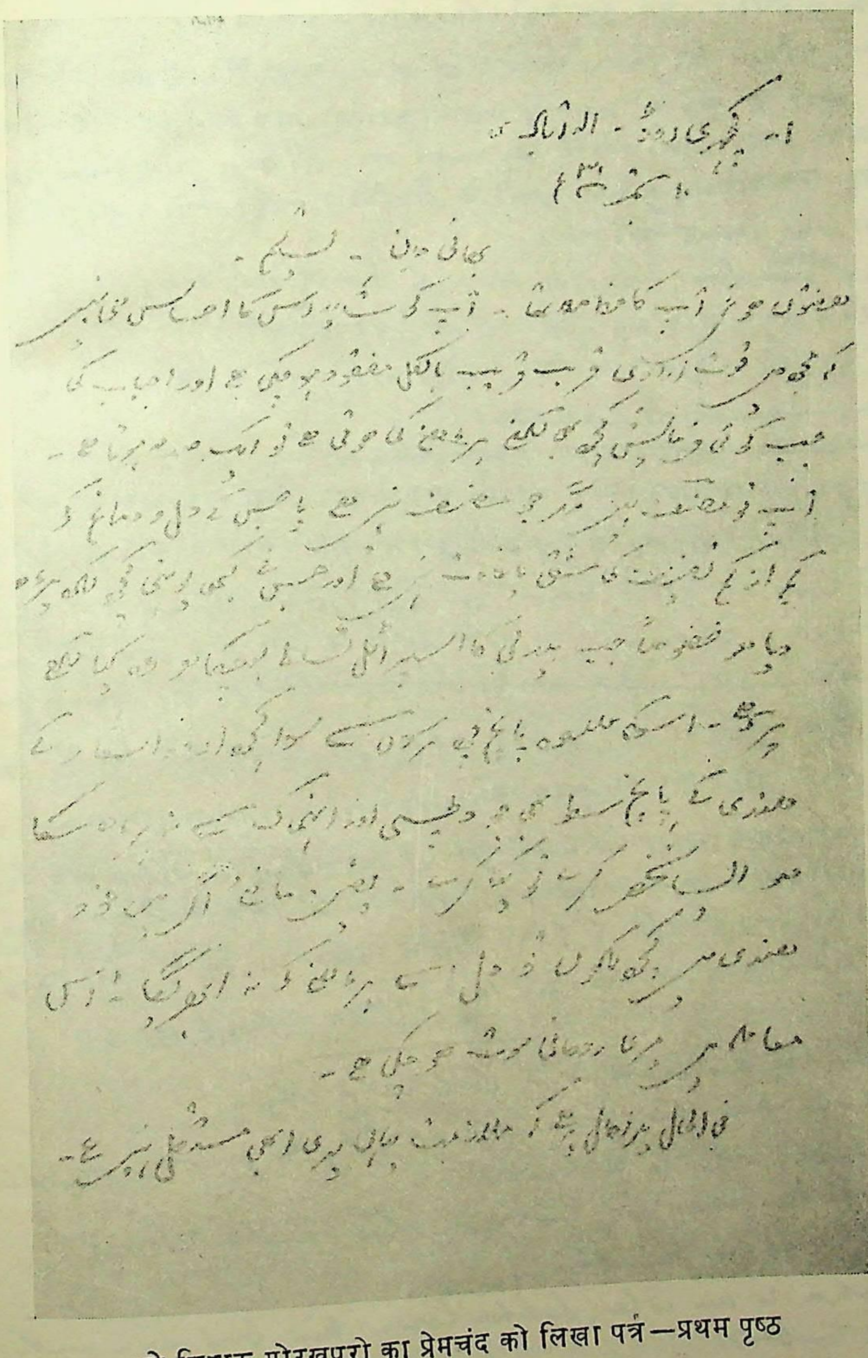
कर्त्तव्य-प्रेम के लिए ईमानदार इंजीनियर को स्वार्थी लोगों से दण्ड मिलता है, फिर भी वह अविचलित है ('सज्जनता का दण्ड' कहानी)। कर्त्तव्यनिष्ठ दारोगा ईमानदारी के आगे बड़े से बड़े प्रलोभनों को ठुकराकर नौकरी तक खो बैठता है, किन्तु उसी के हाथों प्रताड़ित वैभवशाली व्यक्ति उसकी ईमानदारी पर मुग्ध हो जाता है ('नमक का दारोगा' कहानी)। इसी प्रकार 'पछतावा' कहानी में दुर्गानाथ जमींदार के प्रलोभन-आतंक को कुछ न गिनकर कर्त्तव्य-पथ से रच-मात्र विचलित नहीं होता। बाद में उसका मूल्य अनुभव कर जमींदार ऐसे महापुरुष को खो देने का पछतावा मन में लिये हुए संसार से विदा होता है।



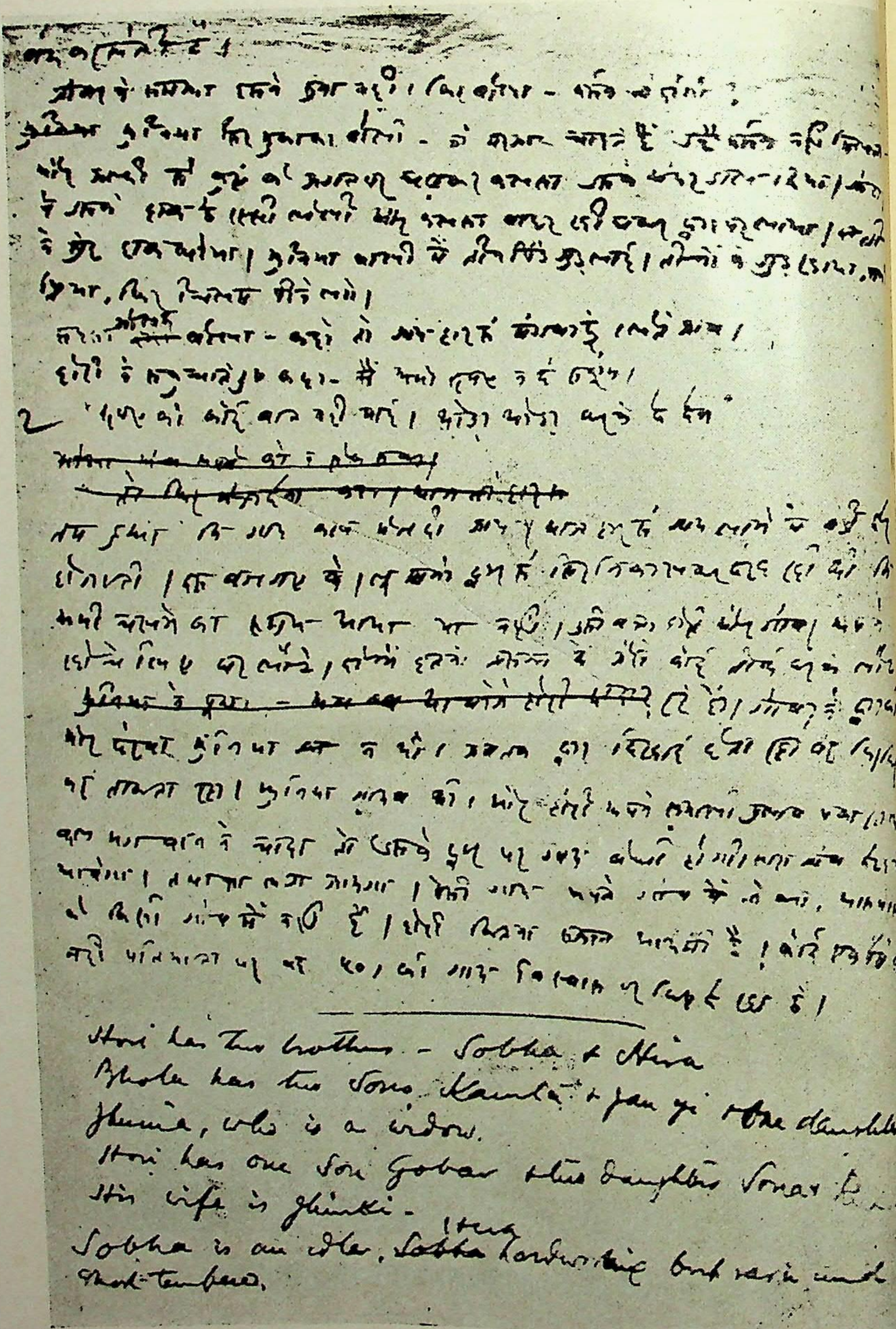
अन्तिम बीमारी—सितम्बर, १९३६



श्री फ़िराक़ गोरखपुरी का प्रेमचंद को लिखा पत्र—अन्तिम पृष्ठ



श्री फिराक़ गोरखपुरी का प्रेमचंद को लिखा पत्र—प्रथम पृष्ठ



Hori has two brothers - Sobha & Hira
Bhola has two sons Kamta & Jangi & one daughter
Jhunia, who is a widow.
Hori has one son Gobar & two daughters Sona & ...
His wife is Jhinki -
Sobha is an idler. Hira hardworking but rash and
short-tempered.

'गोदान' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ
सौजन्य : डॉ० कमल किशोर गोयनका, दिल्ली

प्रेमचंद पत्रों के आइने में

– केवल गोस्वामी

किसी भी देश या भाषा में पत्र-साहित्य प्रायः लेखक का सही और सच्चा स्वरूप उभारता है। वह स्वरूप जिसमें उसके रचनाकाल का आइना; उसकी रचना-प्रक्रिया के अनेक पड़ाव, उसकी छोटी-छोटी तकलीफें, उसके छोटे-छोटे सुख, उसकी सुखी, दुःखी गृहस्थी—गर्जेकि उन तमाम वस्तुओं, घटनाओं और परिस्थितियों का लेखा-जोखा रहता है जो उसे लेखक बनाती हैं। व्यक्ति जितना अधिक ज़िन्दगी और उसकी समस्याओं से दो-चार होता है, उतना ही उसके लेखन में निखार आता है जो कि बड़े लेखन और महान लेखक होने की पहली शर्त है। पत्र-साहित्य में चूंकि सीधे-सीधे संवाद की स्थिति होती है जो तथ्यों पर आधारित होती है, इसलिए उसमें औपचारिकता की कोई गुंजाइश नहीं होती।

उपन्यास सम्राट् प्रेमचंद का विराट व्यक्तित्व उनके विपुल साहित्य के माध्यम से तो सामने आता ही है, उनके पत्रों के माध्यम से उन्हें ज्यादा नजदीक से देखने-समझने तथा उस युग की परिस्थितियों को जानने में सहायता मिलती है। मसलन, उनका परिवेश किस प्रकार उनकी रचनाओं के निर्माण में सहायक या बाधक होता था? यह सर्वविदित है कि प्रेमचंद का साहित्यिक और पत्रकार स्वरूप दोनों एक दूसरे के पूरक थे; और पत्रकारिता बिना आर्थिक साधनों के कांटों की सेज थी, प्रेमचंद के भीतर बैठा ईमानदार पत्रकार उन्हें बराबर उस कांटों की सेज की ओर ढकेलता रहा था। इस सिलसिले में उन्होंने अपने अभिन्न मित्र दयानारायण निगम को एक पत्र में लिखा था—

"मैं फागुन यानी नए साल में एक हिन्दी रिसाला 'हंस' निकालने जा रहा हूं, ६४ सुफहात का होगा और ज्यादातर अफसानों से ताल्लुक रखेगा। है तो हिमाकत ही; दर्द-सर बहुत और नफा कुछ नहीं, लेकिन हिमाकत करने को जी चाहता है। ज़िन्दगी हिमाकतों से गुज़र गई; एक और सही।"

इस ईमानदार और साहित्यिक हिमाकत के लिए प्रेमचंद को क्या नहीं देखना, भोगना पड़ा, यह उनके साहित्य में सर्वथा झलकता है। फिर भी पत्रकारिता को उन्होंने महज

व्यवसाय न मान कर कौमी खिदमत और सामाजिक बदलाव का जरिया बनाया। यू० पी० सरकार से फौजी अखबार के सिलसिले में प्रेमचंद को बुलावा मिला तो प्रेमचंद ने निगम को यह कह कर मना कर दिया—"मैं बदकिस्मती से इसे कौमी काम नहीं समझता—मुझे इस काम से मुआफ़ रखिए।"

दूसरी तरफ प्रेमचंद की चिन्ताएं 'जागरण' के ले लेने से कई गुणा बढ़ गईं। हजारों का घाटा हुआ किन्तु प्रेमचंद की जिजीविषा और अधिक दृढ़ और बलवती हो गई। इसी सिलसिले में वे विनोद शंकर व्यास को लिखते हैं—

"पत्र मिला ! मैंने 'जागरण' बन्द नहीं किया है और न ही करूंगा, स्थगित किया है। समाधि के बाद वह पुनर्जीवन लाभ करके उठेगा और इससे अच्छे रूप में निकलेगा।"

उस अच्छे रूप के पीछे उनकी जन-जीवन के प्रति गहरी रुचि और उत्पीड़ितों और शोषितों के उत्थान के प्रति उत्कट इच्छा झलकती है। इसीलिए उन्होंने निगम को लिखा था—

"अब मैं सरकारी अखबारनवीस क्या बनूंगा ? अगर अखबारनवीस बनना किस्मत में है तो गैर-सरकारी आज़ाद अखबारनवीस होऊंगा। जंग के मुताबिक मज़ामीन लिखने की भी इस वक्त मुझे फुर्सत नहीं है। बस इसी अपनी रफ्तारे-कदीम[1] पर चलूंगा। बी० ए० करके किसी प्राइवेट स्कूल की हैडमास्टरी और अच्छे अखबार की एडीटरी और कुछ पब्लिक का काम। यही मेरा राज़े-जिन्दगी[2] है। अखबार मजदूरों-किसानों का हामी और मुआविन[3] होगा।"

जीवन और विश्व के बारे में प्रेमचंद के आधारभूत विचार थे। उनकी कला का धरातल यही विचार-दर्शन है। इस सिलसिले में प्रेमचंद की तुलना गोर्की से की जा सकती है। उनकी कला के पीछे उनकी यह उद्दाम लालसा है कि अपनी लेखनी के महान् बल से जन-जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाएं। इसकी पुष्टि उनके पं० बनारसी दास को लिखे इस पत्र से हो जाती है—

"मेरी आकांक्षाएं कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं। हां यह जरूर है कि दो-चार ऊंची कोटि की पुस्तकें लिखूं। पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है···मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूं। हां ! रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।"

और प्रेमचंद निरन्तर इसी लगन और मेहनत के साथ लिखते रहे। लेखक के लिए जो न्यूनतम आवश्यकता होनी चाहिए। वह भी उन्हें कभी मयस्सर नहीं हुई। निरन्तर आर्थिक

१ पुरानी रफ्तार। २. जीवन का शिखर। ३. सहयोगी।

अभाव और मानसिक तनाव में वह जीते रहे। लहू थूकते रहे और उच्चतर सामाजिक मूल्यों के लिए लेखन के द्वारा संघर्ष करते रहे। मुंशी दयानारायण निगम को प्रेमचंद लमही की कठोरता का दुःख-भरा विवरण लिखते हैं। ऐसी गर्मी में कोई भी साहित्यिक कार्य असम्भव था—

"गर्मी की कैफियत न पूछिए। कहलाने को साहिबे-मकान हूं। और खुदा के फजल से मकान भी सारे गांव का मानूद है। मगर रहने के काबिल एक कमरा भी नहीं। कोठे पर आग बरसती है। बैठा और पसीना चोटी से एड़ी को चला। नीचे के कमरे सब गंदे। परीशान, किसी में बैल बंधता है, किसी में उपले जमा हैं। कहीं अनाज का ढेर है, किसी में जांत-चक्की, ओखली, मूसल वगैरह जुलूस फर्मा हैं। कोई बैठे कहां, सोये कहां? मजबूरन अनाज के घर में एक चारपाई की जगह निकाल ली है। उसी पर दिन-रात पड़ा रहता हूं।"

इस पत्र से उपन्यास सम्राट की दारुण आर्थिक दशा का पता चलता है। एक अन्य पत्र में वे निगम को लिखते हैं—"मैंने परसों वाले खत में कुछ अतियाए[४]–'आज़ाद' का ज़िक्र किया है। मई-जून में कुल चौबीस कालम हुए। अब शायद जून में कुछ न लिखूंगा, क्योंकि हाजमा निहायत कमजोर हो गया है और एक घंटे भी बैठना दुश्वार है। अगर माऊदा[५] शरह रखिए तो आठ मुबल्लिगात होते हैं। अगर आप बगैर बहुत ज्यादा तरद्दुद के एक तीन-चार रुपये की वाच और साढ़े चार रुपये का जूता भिजवा सकें तो आपका ममनून[६] होऊंगा। एक ही पार्सल में दोनों आ सकते हैं। मेरा जूता छोटक ने ले लिया है और मैं बरहना-पा[७] हूं।"

इस पत्र में बड़े मार्मिक ढंग से प्रेमचंद की आर्थिक बेबसी उभरी है। वह नौकरी छोड़ कर निगम के साप्ताहिक पत्र 'आज़ाद' के लिए काम करना चाहते थे। निगम अपने दोनों पत्रों 'जमाना' और 'आज़ाद' के प्रकाशन में प्रेमचंद की सहायता पाने के लिए उत्सुक थे लेकिन प्रेमचंद को कोई आर्थिक आश्वासन देने में वे असमर्थ थे। प्रेमचंद के बाद उनकी रचनाएं चाहे सोने के भाव बिकें किन्तु अपने जीवन काल में प्रेमचंद जूते की एक जोड़ी और तीन-चार रुपये की एक सस्ती घड़ी के लिए तरसते से रह गए।

प्रेमचंद के आलोचक अक्सर यह आरोप लगाते हैं कि उनमें किस्सागोई अधिक है किन्तु प्रेमचंद का पत्रकार जब कहानी के उच्चतर मानदण्डों का कायल था तो उनका साहित्यकार क्यों न होगा। इसका उदाहरण विष्णु प्रभाकर को लिखे उनके एक पत्र में है—

"आपके लेख और पत्र मिले। कहानी वर्णनात्मक हो गई है। यह तो गल्प न होकर गल्प का सुन्दर प्लाट है। आप इसे गल्प के रूप में लिख भेजें। गल्प में सम्भाषण का भाग (अधिक) वर्णन कम होना चाहिए, खेद है इसे न छाप सकूंगा।"

प्रेमचंद साहित्यिक सोद्देश्यता समर्थक हैं। वह ऐसा मानते हैं कि साहित्य सामाजिक रूपान्तरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। उनकी अपनी रचनाएं इस दिशा में बहुत प्रेरक सिद्ध हुई हैं। उन्होंने जनमानस को नए सांचों में ढाला है।

---

४. पुरस्कार। ५. स्वीकृत। ६. कृतज्ञ। ७. नंगे पांव।

लाहौर के एक मासिक पत्र ने प्रेमचंद से पूछा कि—"आप कहानी कैसे लिखते हैं?" प्रेमचंद का उत्तर था—"मेरी कहानियां प्राय: किसी न किसी, प्रेरणा या अनुभव पर आधारित होती हैं। इनमें कोई ड्रामाई रंग पैदा करने की कोशिश करता हूँ। परन्तु केवल घटना के वर्णन के लिए मैं कहानियां कभी नहीं लिखता। मैं कहानी में किसी दार्शनिक या भावात्मक तथ्य को दिखाना चाहता हूं। जब तक कहानी में कोई ऐसा आधार नहीं मिलता मेरी कलम ही नहीं उठती।"

इसी सिलसिले में अपनी बात को और भी विस्तार से स्पष्ट करते हुए वे विनोद शंकर व्यास को लिखते हैं—'मेरे विचार में—सभी के विचार में—साहित्य के तीन लक्ष्य हैं—परिष्कृति मनोरंजन और उद्घाटन। लेकिन मनोरंजन और उद्घाटन भी उसी परिष्कृति के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि लेखक का मनोरंजन केवल भांडों व नक्कालों का मनोरंजन नहीं होता, उसमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है। उसका उद्घाटन भी परिष्कृति का उद्देश्य सामने रख कर ही होता है। हम मनोभावों को इसलिए नहीं दर्शाते कि हमें उनकी दार्शनिक विवेचना करनी है बल्कि इसलिए कि हम सुन्दर को आकर्षक और असुन्दर को हेय दिखाना चाहते हैं।"

एक अन्य पत्र में वे लिखते हैं—"मैं जो चाहता हूं वह यह कि कहानियों के प्लाट जीवन से लिए जाएं और जीवन की समस्याओं को हल करें। कहानी से कविता का काम लेना मुझे नहीं जंचता। यही बात थी जो मैंने किसी पत्र में इशारतन लिखी थी। गल्पों के विषय में मेरे और आपके मतभेद हैं।"

"गद्य-काव्य हृदय के तारों पर चोट करता है, कहानी से अधिक क्योंकि वह चोट करने के लिए ही लिखा जाता है लेकिन उसकी चोट उस संगीत की ध्वनि के सदृश्य है जो एक बार कान में पड़ कर एक चुटकी लेकर गायब हो जाती है। कहानी आप के सामने चरित्रों को खेलते हुए दिखाती है।"

'कला कला के लिए' नारा देने वालों की उस पूरी जमात को ही प्रेमचंद के उपरोक्त विचार खरी-खरी नहीं सुनाते बल्कि गद्य में नयी राहों के अन्वेषियों को भी आड़े हाथों लेते हैं। इतना ही नहीं, प्रेमचंद प्रकाशकों के नाज-नखरे और लेखकों के निरन्तर शोषण पर भी परेशान थे और उनका कोई ऐसा हल खोजना चाहते थे जिसमें न केवल लेखकों का सम्मान हो अपितु उनको आर्थिक लाभ भी हो। रामचन्द्र टण्डन को लिखे अपने एक पत्र में प्रेमचंद ने लिखा है—"लेखक संघ–मेरी राय में–उनका एकमात्र उपयोगी काम सहकारी प्रकाशन है जिसमें कि—हर लेखक को—जो उसका सदस्य है तीस से लेकर चालीस फीसदी रायल्टी पाने के लिए आश्वस्ति हो जाए। हिन्दी का बाजार इतना मन्दा है और लेखक अपनी पुस्तकें छपवाने के लिए इतने आतुर हैं कि वे प्रकाशकों के साथ कोई भी समझौता कर लेंगे। वे अगर अपनी बातों पर अड़े रहें और प्रकाशक उनकी पुस्तकें प्रकाशित करने से इन्कार कर दें तो फिर बेचारा कहीं का न रह जाएगा। यह पीड़ा वैसी ही है जैसा कि लोगों को वर-दहेज देने से

रोकना। लेकिन जब युवकों की कमी हो और कन्या का पिता तुरन्त अपनी कन्या का विवाह करने के लिए आतुर हो तब फिर दूषित दहेज प्रथा के आगे घुटने टेक देने के अलावा कोई चारा नहीं। वह तने तो किस बात पर ? लेकिन सहकारी प्रकाशन के लिए रुपया चाहिए और संगठन चाहिए और स्टाफ चाहिए और यह काम तभी हाथ में लिया जा सकता है जब संघ के पास आवश्यक प्रभाव और प्रतिष्ठा हो। लेकिन कोई कारण नहीं है कि वह लेखकों की, जब प्रकाशक अनुचित रूप से उनका शोषण करते हों, सहायता न करे। हमारी वर्तमान आवश्यकता सदस्यता को बढ़ाना है ताकि संघ साहित्यिक काम करने वालों की ओर से उनके प्रतिनिधि की हैसियत से बोल सके। हमें उसको परवान चढ़ाना है और उस जगह पहुँचाना है जहां वह असर कर सके।"

प्रेमचंद बराबर नए साहित्यकारों को सहयोग देते रहे। उनका मार्गदर्शन करते रहे। अहम् नाम की चीज़ जैसे उन्हें छू तक नहीं गई। लेखक नया है या पुराना, अगर उसमें प्रतिभा है तो प्रेमचंद उसे ऊपर उठाना, बनाना, संवारना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उदाहरण के लिए एक अत्यन्त नए लेखक हरिहरनाथ को लिखे एक पत्र को देखें—

"मैंने बड़े चाव से आपकी सुन्दर और आवेगपूर्ण चीज़ पढ़ी। इसमें बहुत आग है और बहुत दर्द, पर कहानी के आवश्यक तत्व—कोई विचार—कथानक और चरित्र—इसमें नहीं हैं इसलिए यह चीज़ गद्यकाव्य है, कहानी नहीं। अगर आपकी रुचि इसी ओर हो तो जरूर लिखिए पर थोड़ा भावुकता से बचिए। सृजनशील मन को सृजन करना चाहिए—किस चीज़ का ? चरित्रों को उजागर करने वाली परिस्थितियों का। युवक को आशावादी भावना से लिखना चाहिए। उसकी आशावादिता संक्रामक होनी चाहिए जिससे वह दूसरों में भी उसी भावना का संचार कर सके। मेरा ख्याल है कि साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य उन्नयन है, ऊपर उठाना। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात आंख से ओझल न करनी चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आप 'मनुष्य' की सृष्टि करें, साहसी, ईमानदार, स्वतंत्रचेता मनुष्य। आज इसी की जरूरत है। निश्चय ही मानव प्रकृति चुक नहीं गई। इस तरह की रचनाएं मुझे आशंका है—लोकप्रिय नहीं हो सकतीं। माधुरी में तो खैर मैं उसे छापूंगा ही—मेरा लक्ष्य है समालोचनाएं और दूसरे विषयों के अतिरिक्त हर महीने प्रथम श्रेणी की चुनी लगभग छः कहानियां देना। जरूर एक कहानी लिखिए। हिन्दी साहित्य के हमारे नवयुवक लेखकों का भविष्य उज्ज्वल है लेकिन आप भी जानते हैं कि अपनी खास जगह बनाने के लिए, नियमित रूप से, लगन से और धीरज से काम करना जरूरी है।"

प्रेमचंद हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे के अधिक निकट लाना चाहते थे। इसी प्रकार भारत के बहुसंख्यक धार्मिक तत्वों को भी अधिक समीप लाने की प्रबल लालसा मन में रखते थे। इसलिए उन्होंने अपने अमर साहित्य के लिए इस प्रकार की भाषा का चुनाव किया जो इन दोनों का मिश्रण हो। रामचन्द्र टण्डन को लिखे अपने पत्र में प्रेमचंद फर्माते हैं—

"पत्र के लिए और उन कतरनों के लिए जो आपने कृपापूर्वक भेजी हैं, धन्यवाद। डॉ० सप्रू का लेख पढ़ चुका था। और उसमें बहुत तुक की बातें कही गई हैं। उसमें एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिस पर कोई आपत्ति कर सके। लेकिन मिस्टर धीरेन्द्र के विचार पृथकतावादियों के हैं और मैं उनका समर्थन नहीं कर सकता। शायद आपने इस विषय पर 'गारसां द तासी' के लेख पढ़े हों। 'उर्दू' अंजुमन तरक्किये-उर्दू का मुखपत्र है—उन्हें किस्तों में छाप रहा है। हाल ही में प्रकाशित लेखों में से एक मैंने पढ़ा। उसमें इतनी ताजगी और साफगोई और दूरन्देशी पाकर मुझे ताज्जुब हुआ। कौन जाने मिस्टर वर्मा ने उसे पढ़ा है या नहीं। उसमें इस समस्या का हल बहुत उस्तादी ढंग से किया है। उनकी राय है कि लिपि को छोड़ कर हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा है। कहां पर भाषा उर्दू की सीमा को लांघ कर हिन्दी क्षेत्र में पहुंच जाती है, रेखा खींच कर बतलाना असम्भव है। उर्दू वाले जितना मन चाहे अरबी और फारसी से लें। हिन्दी वाले भी उनका अनुकरण करें। उनकी भाषा प्रान्तीय उर्दू और हिन्दी ही बनी रहेगी। हिन्दुस्तानी जनता के रास्ते पर चलेगी और जबान जैसे बोली जाती है वैसे ही लिखने की कोशिश करेगी। जनता से मेरा मतलब स्वभावत: वे लोग हैं जो लिख-पढ़ सकते हैं और जिनके पास साहित्यिक संस्कार है।"

साहित्य सामाजिक, रूपान्तरण में तभी सहायक सिद्ध हो सकता है जब उसमें सम्प्रेषण की समस्या न हो और लेखक अपनी भाषा के माध्यम से अपने भावों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचा सके। इसी पत्र में प्रेमचंद आगे कहते हैं—

"...मेरा ऐसा विश्वास है कि साहित्यिक अभिव्यक्ति को बोलचाल की भाषा के निकट से निकट पहुंचाना चाहिए। कम से कम नाटक, कहानी और उपन्यास, साधारण बोलचाल की भाषा में हम लिख सकते हैं। इन्हीं में हम जीवनी और यात्रा-विवरणों को भी शामिल कर सकते है और साहित्य की यह शाखाएं संपूर्ण साहित्य की तीन-चौथाई ठहरती हैं और ऐसा तीन-चौथाई जो सचमुच महत्व रखता है। आपका विज्ञान और दर्शन संस्कृत में लिया जाए या प्राकृत में मुझे कोई परवाह नहीं। जैसा कि 'गारसां द तासी' कहता है, हिन्दी को अपने पुराने आधारों के पास खींच कर ले जाना एक वैसी ही बेकार कोशिश है जैसा कि नदी की धारा को मोड़ कर वापस उसके उद्गम स्थल पर ले जाना।"

साम्प्रदायिकता के विरोध में प्रेमचंद पं० बनारसी दास जी को एक पत्र में लिखते हैं—

"इस्लाम का विष-वृक्ष मैंने नहीं देखा है। मगर 'चित्रपट' में उनका जो विज्ञापन निकल रहा है उससे मैं अच्छी तरह समझ सकता हूं कि यह क्या है। यह साम्प्रदायिकता फैलाने की एक बेहद शरारत भरी और नीच कोशिश है और उसका पर्दाफाश करना ही होगा' ...आपने इस मामले को उठा लिया है, मैं दिलो-जान से आपके साथ हूं। इस बात की परवाह मत कीजिए कि हम लोग अलग मत में हैं। हमारा लक्ष्य पवित्र है। जुलाई का हंस पूरा हो गया है; मैं आपका नोट जागरण में दे रहा हूं। अगर आप मेरे पास किताब भेज दें तो मैं उस पर पूरा एक सम्पादकीय लिखूं।"

प्रेमचंद न केवल हिन्दी या उर्दू के साहित्य के प्रसार के बारे में उत्सुक थे बल्कि हिन्दोस्तान की और ज़ुबानों में क्या हो रहा है इसे जानने के लिए भी वह बेकरार रहते थे और लगातार एक मंच की आवश्यकता महसूस करते थे। अपने एक पत्र में उन्होंने निगम को लिखा—

"हम अंग्रेजी बा-कमालों से वाकिफ हैं ; जर्मनी, इंगलैंड, अदीबों के असमायेगरां[८] हमारी नोके-जबान पर हैं लेकिन, हिन्दोस्तानी में सूबेजाती जबानो में कौन बाकमाल पड़े हुए हैं इनकी हमें बिल्कुल खबर नहीं। इसी बेगानगी को दूर करने और हिन्दोस्तान भर के अदीबों में बिरादराना रब्त-जब्त पैदा करने और एक दूसरे की तसानीफ[९] से रूशनास[१०] करने के लिए अंजुमन की बुनियाद डाली जा रही है।"

इसी अंजुमन के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए प्रेमचंद ने कहा, "मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूं। हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। कला नाम था और अब भी है संकुचित रूप-पूजा का। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष देखे।

"जिन्हें वैभव प्यारा है। साहित्य मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहां तो उन उपासकों की जरूरत है जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो।"

प्रेमचंद निःसन्देह क्रान्तिकारी प्रगतिशील चिन्तक थे। अन्याय और कुरीतियों पर प्रेमचंद ने चौमुखी आक्रमण किया। वह पंडित के विरोध में अछूत के साथ, सामाजिक तानाशाह के विरुद्ध विधवा स्त्री के साथ खड़े हुए। वह पुरातनपंथी और अन्धविश्वासी अन्धी आस्था के विरोधी थे। वह मूर्तिभंजक थे जिससे परम्परा के अनुयायी और दास जलते थे, वैर रखते थे। प्रेमचंद ने इनका डट कर मुकाबला किया। बनारसी दास जी को लिखे पत्र में वह कहते हैं—

"निर्मल जी को जवाब देते हुए मैंने 'जागरण' में जो लेख लिखा था क्या आपने उसे देखा ? यह निर्मल बिलकुल सिद्धान्तहीन आदमी है। जिन दिनों पाक्षिक 'जागरण' बाबू शिवपूजन सहाय के हाथों में था मेरे और 'जागरण' के बीच विवाद खड़ा हुआ था। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने कुछ लिखा था उसी को लेकर झगड़ा हो गया। उस समय निर्मल ने 'जागरण' में एक लेख लिखा था जिसमें मेरे साहित्यिक कार्य का मूल्य गिराया गया था और मुझे सलाह दी गई थी कि अब मैं और कुछ न लिखूं क्योंकि मेरे दिन बीत चुके और अब मैं पुराना पड़ गया। शिवपूजन सहाय ने इस लेख को नहीं छापा। कुछ समय बाद जब 'जागरण' मेरे हाथ आया तो इसी निर्मल ने एक लेख मेरी तारीफ में जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाते हुए लिखा जिसको मैंने छाप दिया। इससे पता चलता है कि यह आदमी किस धात का बना है। उसने मुझ पर यह दोष लगाया है कि मैं ब्राह्मण वर्ग का द्रोही हूं सिर्फ इसलिए कि मैंने इन पुजारियों और महंतों और धार्मिक लुच्चे-लफंगों के कुछ पाखंडों का मजाक

---

८. भारी-भारी नाम। ९. रचनाओं। १०. परिचित।

उड़ाया है ; उनको यह ब्राह्मण कहता है और जरा नहीं सोचता कि उनको ब्राह्मण कह कर वह अच्छे-भले ब्राह्मणों का कितना अपमान करता है । ब्राह्मण का मेरा आदर्श सेवा और त्याग का है । पाखण्ड और कट्टरता और सीधे-सादे हिन्दू-समाज के अन्ध विश्वास का फायदा उठाना इन पुजारियों और पंडों का धंधा है । इसलिए मैं उन्हें हिन्दू समाज का एक अभिशाप समझता हूं और उन्हें अपने अधः पतन के लिए उत्तरदायी समझता हूं । वे इसी के काबिल हैं कि उनका मखौल उड़ाया जाय और यही मैंने किया है । यह निर्मल और उसी थैली के चट्टे-बट्टे दूसरे लोग ऊपर से बहुत राष्ट्रवादी बनते हैं मगर उनके दिल में पुजारी वर्ग की सारी कमजोरियां भरी पड़ी हैं इसलिए वे इन लोगों को गालियां देते हैं जो स्थिति में सुधार लाने की कोशिश कर रहे हैं ।"

प्रेमचंद स्वयं निम्न मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे नौकरी पेशा तबके से थे, लेकिन उनका पूरा विश्वास था कि पढ़े-लिखे लोगों पर भरोसा नहीं हो सकता, यदि कोई परिवर्तन होना है तो वह अनपढ़ मेहनतकश जनता के सगठित संघर्ष द्वारा ही सम्भव है जो वास्तव में परिवर्तन के लिए कार्यरत भी हैं । वह जान दे सकता है । समझौता उसकी फ़ितरत में नहीं है । २३ अप्रैल, १९३० के अपने पत्र में वह निगम को लिखते हैं—"इस मौके पर फिर साफ जाहिर हुआ कि अगर दो फी-सदी अंग्रेजी-खवां[११] असहाबतरीन के साथ है तो ९८ फी-सदी उसके मुखालिफ हैं । कौमी एतबार से युनिवर्सिटियों और स्कूलों पर कौम का जितना रुपया सर्फ़ हुआ वह करीबन जाया हो गया । यह लोग सरकार के आदमी हुए कौम के नहीं । गैर-अंग्रेज़ी-दां, कारोबारी और पेशावर तबकों ने ही इस तहरीक में जान डाली है । अगर तालीम-याफ्ता आदमियों के भरोसे मुल्क बैठा रहे तो शायद कयामत तक उसे आजादी नसीब न हो ।"' सरकार कोई रिफार्म उस वक्त तक नहीं करती जब तक उसे पूरा यकीन न हो जाए कि इस तहरीक के पीछे कितनी ताकत है । और तालीम-याफ्ता जमात का इससे किनारे रहना कितना दिलशिकन हैं । कानूनपेशा, तबीबपेशा,[१२] प्रोफेसर और सरकारी मुलाज़मीन—इन सबने कितनी गुलामाना[१३] जेहनियत का पता दिया है उसकी मुझे उम्मीद न थी । यह तबका अपनी खैरियत गवर्नमैंट का इक्तदार[१४] कायम रहने में समझता है । वह एक लम्हे के लिए भी अपनी आसाइश[१५] और दुनिया-तलबी[१६] को फरामोश[१७] नहीं कर सकता । ज़र[१८] उसका दीन और ईमान है । वह या तो आजादी चाहता ही नहीं या उसके लिए कीमत न देकर दूसरों पर तकिया[१९] करना ही अपनी शान के मुनासिब समझता है । या तो वह इस ख्याल में मगन है कि आप ही आप आजादी मिल जाएगी । कांग्रेस के दौरे-अव्वल में वह इससे खाइफ[२०] रहा, कांग्रेस के दौरे-सानी[२१] में भी उसकी यही हालत रही । वह सरीहन[२२] देख रहा है कि जो कुछ उसे मिला और जिसे वह अपना हक समझता है वह दूसरों के ईसार[२३] और कुर्बानी का नतीजा

११. अंग्रेजी पढ़े, १२. डाक्टर, १३. गुलामों जैसी, १४. सत्ता, १५. सुख-सुविधा, १६ सांसारिक लाभ, १७. भूख, १८. रुपया, १९. भरोसा, २०. भयभीत, २१. दूसरे दौर, २२. साफ, २३. त्याग ।

है। फिर भी वह इस ईसार और कुर्बानी में शरीक नहीं होता। यही *bourgeios* फिजा है और यही नादार[२४] फिर्केदार[२५] फिर्के का दुश्मन बना देता है।"

वह कदम-कदम पर समाजवादी विचार-दर्शन को अपनाते जा रहे थे। खेतों और कल-कारखानों में सभी प्रकार के शोषण-उत्पीड़न के वह विरुद्ध थे। निगम को लिखे पत्रों में उन्होंने इस बात का जिक्र किया है कि वह किसी तत्कालीन राजनीतिक पार्टी में विश्वास नहीं करते।

बाबू दयानारायण निगम को लिखे अनेक पत्रों में उन्होंने इस बात का जिक्र किया है। २१ दिसम्बर १९१९ का यह पत्र इस बात की ओर स्पष्ट इंगित करता है कि प्रेमचंद गांधीवादी विचारों से मुक्त हो रहे थे और रूस की समाजवादी क्रान्ति के समाचार उन्हें आन्दोलित कर रहे थे।

"मैं अब करीब-करीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूं, आपकी क्या राय है..."

एक अन्य पत्र में वह निगम को लिखते हैं, जिसमें वह अपनी राजनीतिक विचारधारा की ओर स्पष्टतया रेखांकित करते हुए कहते हैं—

"आपने मुझसे पूछा है कि मैं किस पार्टी में हूं। मैं किसी पार्टी में भी नहीं हूं। इसलिए कि दोनों में से कोई पार्टी कुछ असली काम नहीं कर रही है। मैं तो उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूं जो कोतहुन्नाम[२६] की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाये।"

स्पष्ट है कि यह पत्र १९२३ का है जबकि भारतीय राजनीतिक नेतृत्व पस्ती पर था। असहयोग आन्दोलन वापिस ले लिया गया था; चारों तरफ पस्ती का माहौल था किन्तु जनता की जुझारू शक्तियां संघर्षशील नेतृत्व की आस में थीं। इसलिए प्रेमचंद उस आने वाली पार्टी का आह्वान करते हैं।

श्री इन्द्रनाथ मदान को एक पत्र में प्रेमचंद अपने आधारभूत विश्वासों की बातें लिखते हैं। विश्व को परिचालित करने वाली किसी जागरूक और उदार शक्ति में आस्था रखना उनके लिए असम्भव हो गया है। वह लिखते हैं—

"पहले मैं एक परम सत्ता में विश्वास रखता था, विचारों के निष्कर्ष के रूप में नहीं केवल एक लम्बे चले आते रूढ़िवादी विश्वास के नाते। यह विश्वास अब खंडित हो रहा है। निस्सन्देह विश्व के पीछे कोई हाथ है, लेकिन मैं नहीं समझता कि उसको मानव व्यापारों से कुछ लेना-देना है। उसी तरह जैसे उसे चींटियों या मच्छरों के झमेले से कुछ लेना-देना नहीं। हमने अपने आपको जो महत्व दे रखा है उसके पीछे कोई प्रमाण नहीं है।"

जैनेन्द्र को उन्होंने लिखा—"अक्ल की बातें पढ़ते-पढ़ते उम्र बीत गई ईश्वर का विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती? तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे पूरे भक्त बन रहे हो, मैं सन्देह में पक्का नास्तिक होता जा रहा हूं।"

---

२४. गरीब, २५. अमीर, २६. छोटे लोगों।

यह बात नहीं थी कि प्रेमचंद ने मार्क्स के धर्म-सम्बन्धी विचार पढ़े थे कि 'धर्म साधारण जन के लिए अफीम जैसा प्रभाव डालता है।' अपितु, पंडों, महन्तों और मठाधीशों के स्वार्थ, पाखण्ड और शोषण को देखते हुए और भोली-भाली जनता को उनके चगुल में तड़पते देखकर ही प्रेमचंद इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे और उसकी पुष्टि में उनकी अनेक उत्कृष्ट रचनाएं हमारे सामने हैं।

स्वराज्य के सम्बन्ध में शिवरानी जी से बात-चीत के दौरान शिवरानी जी ने पूछा—"जब स्वराज्य हो जाएगा तब क्या चूसना बन्द हो जाएगा।' प्रेमचन्द ने उत्तर दिया—"चूसा तो थोड़ा-बहुत हर जगह जाता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर को शहजोर चूसे। हां, रूस में जहां बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया है गरीबों को आनन्द है। शायद यहां भी कुछ दिनों बाद रूस जैसा हो।"

यह पत्र औपचारिक बातचीत ही नहीं थे बल्कि प्रेमचंद बराबर वैचारिक धरातल पर इस दिशा की ओर बढ़ रहे थे। वह जितने बड़े साहित्यकार थे उतने ही बड़े इन्सान भी थे जिनके विचारों के विभिन्न स्रोत उनके साहित्य में यत्र-तत्र हमें दिखाई दे रहे हैं लेकिन उन जैसा जनता का दोस्त और देश के लिए सही मायनों में परेशान रहने वाला साहित्यकार बाद की पीढ़ी में नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन बहुआयामी व्यक्तित्व जैसा प्रेमचंद का था वह दुर्लभ है।

और अन्त में उनके अन्तिम अधूरे उपन्यास 'मंगल-सूत्र'—जिसके नायक स्वयं प्रेमचंद हैं—से एक अंश—

"इसमें कोई अन्तर नहीं कर सकता कि उनकी आतमा विधान थी। यह असम्भव था कि कोई उनसे मदद मांगे और निराश हो···साहित्य सेवा के सिवाय उन्हें किसी काम से रुचि न हुई और यहां धन कहां? हां यश मिला और उनके आतमतोष के लिए इतना काफी था। संचय में तो उनका विश्वास भी न था। ···सम्मान के साथ अपना निर्वाह होता जाए इससे ज्यादा वह और कुछ न चाहते थे। साहित्य-रसिकों में जो एक अकड़ होती है चाहे उसे शोखी ही क्यों न कह लो उनमें थी।"

भूल सुधार

शीराज़ा ४६ के पृष्ठ ४५ पर प्रकाशित कविता 'विरासत' की एक पंक्ति अधूरी छप गयी है। कृपया इसे इस प्रकार पढ़ें—"हमारी नसों में रुधिर नहीं मसि है।" भूल से पंक्ति में 'मसि' शब्द नहीं छप सका, इसका हमें खेद है।

—सम्पादक

प्रेमचंद की एक अप्राप्य कहानी—'आबे-हयात'

—डॉ० कमल किशोर गोयनका

प्रेमचंद के अप्राप्य एवं अज्ञात साहित्य की खोज का कार्य प्रेमचंद के छोटे पुत्र अमृत राय ने आरम्भ किया। उन्होंने जुलाई, १९६२ में इस प्रकार के अप्राप्य साहित्य को ८-९ पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया। अमृत राय की यह बहुत बड़ी सफलता थी कि वे हज़ारों पृष्ठ के अज्ञात एवं अप्राप्य साहित्य को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर सके थे। मैंने जब सन् १९७२-७३ में 'प्रेमचंद विश्वकोश' पर कार्य आरम्भ किया, तब मुझे प्रतीत हुआ कि प्रेमचंद की हिन्दी-उर्दू रचनाओं में से बहुत सी रचनाएं अभी तक अप्राप्य हैं और उन्हें खोजने का कार्य अनेक वर्षों तक चलाना होगा। प्रेमचंद का एक उर्दू उपन्यास 'किशना' भी अभी तक अप्राप्य है, जबकि इसके प्रकाशित होने के प्रमाण इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन में मौजूद हैं। मेरे पास उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर प्रेमचंद का लगभग २००० पृष्ठों का हिन्दी-उर्दू का साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। यह साहित्य—कहानी, लेख, भूमिका, पत्र, पुस्तक-समीक्षा, उपन्यास आदि पत्र-पत्रिकाओं में छिपा पड़ा है अथवा मूल रचना एवं पुस्तक पुरानी लाइब्रेरियों की अलमारियों में दबी पड़ी है। वास्तव में, इस अप्राप्य एवं अज्ञात साहित्य की खोज का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचंद जैसे आधुनिक साहित्यकार की सभी रचनाएं पाठकों के लिए उपलब्ध न हों, यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है और हिन्दी-उर्दू शोधार्थियों के लिये लज्जा की बात है।

मैंने अपने लघु प्रयास से प्रेमचंद के लगभग ७०० पृष्ठों के अज्ञात एवं अप्राप्य साहित्य की खोज की है। यह साहित्य हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में है तथा इसमें कहानी, लेख, भूमिका, पुस्तक-समीक्षा आदि विभिन्न प्रकार की रचनाएं हैं। इन्हीं अप्राप्य रचनाओं में से एक उर्दू कहानी—**आबे-हयात**—यहां प्रस्तुत है जो उर्दू मासिक पत्रिका 'सुबहे-उम्मीद' के मार्च, १९२० के अंक में छपी थी। प्रेमचंद ने इस उर्दू कहानी का हिन्दी अनुवाद नहीं किया और न अपने किसी उर्दू कहानी-संग्रह में ही इसे संकलित किया। इस प्रकार यह कहानी हिन्दी पाठकों के सम्मुख पहली बार आ रही है। आज के उर्दू पाठक के लिये भी यह कहानी उतनी ही नयी है, क्योंकि वह भी इसके अस्तित्त्व से परिचित नहीं था। यहां यह कहानी देवनागरी

लिपि में लिप्यन्तर करके प्रस्तुत की जा रही है। कठिन उर्दू शब्दों के हिन्दी अर्थ फुटनोट में दे दिये गये हैं। कहानी का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत न करके हिन्दी लिप्यन्तर दिया गया है जिससे प्रेमचंद की मूल भाषिक संरचना को सुरक्षित रखा जा सके।

कहानी

आबे-हयात

—प्रेमचंद

डॉक्टर घोष एक अजीबो-गरीब आदमी थे। एक बार उन्होंने अपने चार मुअज़्ज़िज़[1] दोस्तों को तजरुबागाह[2] में मिलने के लिए बुलाया। उनमें से तीन असहाब इतने किब्रसिन[3] थे कि उनकी ढाढ़ियां भी सुफ़ेद हो गई थीं। उनके नाम थे—बाबू दयाराम, ठाकर विक्रम सिंह और लाला करोड़ीमल। चौथी एक बेवा थी जिनका नाम मुसम्मात[4] चंचल कंवर था। बुढ़ापे ने उनके जिस्म पर झुरियां डाल दी थीं। यह चारों अश्ख़ास[5] बहुत मलूल-ओ-महज़ू[6] रहा करते थे। उनकी ज़िन्दगियां तलख हो गई थीं और सबसे बड़ा सितम यही था कि वे अभी बक़ैदे-हयात[7] थे।

लाला करोड़ीमल शबाब में एक मुतमव्विल ताजिर[8] थे। मगर उन्होंने अपनी सारी दौलत सट्टे में उड़ा दी थी और अब सिर्फ़ मुहज़्ज़ब गदागरी[9] पर गुज़रान करते थे। ठाकर विक्रम सिंह ऐश-ओ-तरब[10] के बन्दे थे। उन्होंने अपनी दौलत ही नहीं अपनी सेहत भी हवस-रानियों[11] पर कुर्बान कर दी थी और अब उनका जिस्म मुतअद्दिद अम्राज़[12] का मामन[13] बना हुआ था। वह बहुत परेशान और अफ़्सुर्दा खातिर[14] रहा करते थे। बाबू दयाराम किसी जमाने में वकील थे और कौमी तहरीक़ों में भी कुछ हिस्सा लिया था। मगर किसी न किसी वजह से वह बदनाम हो गये थे और अब कोई उनके करीब न फटकता था। गोशा-ए-नाकामी में पड़े दिन काट रहे थे। रहीं मुसम्मात चंचल कंवर—किसी ज़माने में उनके हुस्न का शोहरा था। बहुत अर्से से वह मुतबर्रिक मुक़ामात[15] की ज़ियारत[16] करने में मारूफ़ थीं। शुरफ़ाए-शहर[17] यहां तक कि उनके अज़ीज़-ओ-रिश्तेदार भी उनसे मुहतरिज़[18] रहते थे। करोड़ीमल, दयाराम, विक्रम सिंह तीनों हज़रात किसी ज़माने में इन मुसम्मात के अश्शाक़[19] थे। यहां तक कि एक बार बाहमी रक़ाबत[20] के बाइस उनमें खून-खराबे की नौबत भी आ चुकी थी मगर अब वह पिछली बातें ख्वाब-ओ-ख्याल हो गई थीं। उनकी याद भी दिलफ़िगार[21] हो गई थी।

---

१. सम्मानित, प्रतिष्ठित २. प्रयोगशाला ३. वृद्ध ४. श्रीमती ५. लोग, व्यक्ति ६. उदास और शोकान्वित ७. जीवनपाश में आबद्ध, जीवित ८ सम्पन्न व्यापारी ९. शिष्ट भिक्षावृत्ति १०. भोगविलास और आनंद ११. भोग-लिप्साओं १२. रोग समूह, अनेक रोग १२ विश्रामस्थल, केन्द्र १४. उदास मन १५. पवित्र स्थान १६. यात्रा १७. नगर के सम्मानित लोग १८. बचना, परहेज़ करना १९. प्रेमी २०. प्रेमियों की परस्पर लाग-डांट २१. कष्टप्रद, क्षत हृदय

डॉ० घोष उन आदमियों को बैठने का इशारा करके बोले—दोस्तो ! आपको मालूम है कि मैं अपना वक़्त छोटे-मोटे तजुर्बात करने में सर्फ़ किया करता हूं। आज मुझे एक तजुर्बे में आपकी मदद की ज़रूरत है। अगर रवायतों पर एतबार किया जाये तो डॉक्टर घोष की लेबोरेट्री एक अजूबा चीज़ थी। कमरा तारीक[२२] पुरानी वज़ा[२३] का था। मकड़ियों के जाले खिड़कियों पर पर्दे का काम दे रहे थे और फर्श पर बरसों की गर्द जमी हुई थी। दीवारों से मिली हुई कई साखों की अलमारियां थीं। उनमें मुजल्लिद[२४] किताबें चुनी हुई थीं। बीच की अलमारी में भैरों की एक मूरत रखी हुई थी। कुछ लोगों का ख़्याल था कि मुशकिलात में डॉक्टर साहब इसी मूरत से मशविरा किया करते थे। कमरे के सबसे अंधेरे गोशे में एक ऊंची-पतली अलमारी थी। उसमें से एक इन्सान का उस्तुख़्वानी[२५] ढांचा कुछ-कुछ नज़र आता था। उसी के क़रीब दो अलमारियों के बीच में धुंधला-सा आईना रखा हुआ था, जिसका सुनहरी चौखटा मैला हो रहा था। कहा जाता था कि डॉक्टर साहब के दस्त-ए-शिफ़ा[२६] से मरे हुए मरीज़ों की रूहें इसी आईने में रहती थीं और जब कभी वह आईना की तरफ़ देखते थे तो वह सब की सब उनकी तरफ़ घूरने लगती थीं। कमरे की दूसरी तरफ़ एक हसीना की क़द्दे-आदम तस्वीर थी मगर मुरूरे-ऐयाम[२७] से चेहरे और कपड़े का रंग उड़ गया था। पचास बरस का अर्सा हुआ डॉक्टर साहब ने इसी हसीना से शादी करने की तजवीज़ की थी। मगर शादी के चंद रोज़ क़ब्ल[२८] वह बीमार पड़ी और अपने तालिब[२९] डॉक्टर की दवा खाकर इस दुनिया से चल बसी थी। तजुर्बेगाह की सबसे अजीब चीज़ का ज़िक्र करना अभी बाकी है। यह एक सियाह ज़िल्द की ज़ख़ीम[३०] किताब थी। इस किताब का नाम किसी को न मालूम था लेकिन लोग यह जान्ते थे कि यह जादू की किताब है। एक बार ख़ादिम ने गर्द झाड़ने के लिए इस किताब को उठाया था। किताब के उठाते ही अलमारी में रखा हुआ अस्तुख़्वानी ढांचा कांप उठा। हसीना की तस्वीर एक क़दम आगे बढ़ गई और सदहा ख़ौफनाक़ सूरतें आईने में झांकने लगीं। इतना ही नहीं भैरों की मूरत के तेवर बदल गये और उसके मुंह से 'बस करो, बस करो' की आवाज़ निकलने लगी थी।

डॉक्टर घोष की ज़बान से तजुर्बे का ज़िक्र सुनकर उनके चारों दोस्तों ने समझा कि या तो हमें हवा से खाली शीशे की नली में किसी चूहे की मौत का तमाशा दिखाया जायेगा या ख़ुर्दबीन से मकड़ी के जाले का मुलाहिज़ा[३१] करना होगा या किसी क़िस्म की और कोई दूर अज़कार[३२] बेतुकी बात होगी, क्योंकि ऐसे ही तजुर्बात के मुशाहदे के लिए डॉक्टर साहब पहले भी बीसीओं बार अपने दोस्तों को दिक़ कर चुके थे। उन्हें इस मुजव्विज़ा तजुर्बे[३३] से कुछ ज़्यादा शौक़ न पैदा हुआ। मगर डॉक्टर साहब उनके जवाब का इन्तज़ार किये बग़ैर उठ खड़े हुये और लंगड़ाते हुये कमरे के दूसरे गोशे से वही ज़ख़ीम किताब उठा लाये जो हर्फ़ेआम[३४] में

---

२२. अंधकार २३. ढंग, बनावट २४. सजिल्द २५. अस्थिपंजर २६. स्वास्थ्य लाभ कराने वाला हाथ २७. समय बीतना २८. पहले २९. अभिलाषी, इच्छुक ३०. मोटी ३१. अनुशीलन, ग़ौर करना ३२. वर्णनातीत, असम्भव चर्चा ३३. निर्णायक प्रयोग ३४. आम भाषा में

जादू की किताब मशहूर थी। उन्होंने इस किताब को खोला और औराक़[35] में से एक गुलाब का फूल निकाला जो कभी सुर्ख़ रहा होगा, पर उस वक़्त मटियाला हो रहा था। उसकी पंखड़ियां ऐसी ख़ुश्क हो गई थीं गोया छूते ही चूर-चूर हो जायेंगी।

डॉक्टर साहब ठण्डी सांस लेकर आहिस्ता से बोले—आज पचपन साल हुए यह गुलाब का फूल जो अब बिलकुल मुरझाया हुआ है और छूने से चूर-चूर हुआ जाता है, सुर्ख़ और शगुफ़्ता[36] था। यह उस हसीन का तोहफ़ा था, जिसकी तस्वीर सामने लटक रही है और मैं इसे शादी के दिन अपने कपड़ों में लगाना चाहता था। इन औराक़ में यह फूल पचपन साल तक दफ़न रहा है। क्या यह निस्फ़ सदी[37] का पुराना फूल फिर हरा हो सकता है? मुसम्मात चंचल कंवर ने बेदिली से सिर हिलाकर कहा, "यह तो ऐसा ही है जैसे कोई पूछे कि किसी बूढ़ी औरत का पुरशिकन[38] चेहरा फिर चिकना हो सकता है?"

डॉक्टर घोष ने फ़र्माया, "अच्छा देखो।"

यह कहकर उन्होंने मेज़ पर रखे हुए मटके का ढकना उठाया और उस मुरझाये हुए फूल को पानी में डाल दिया जो उसमें भरा हुआ था। पहिले कुछ देर तक तो फूल पानी पर तैरता रहा। उस पर पानी का कुछ असर न हुआ लेकिन एक ही लम्हे में हैरतखेज़ तग़य्युर[39] नज़र आने लगा। चिपटी और सूखी हुई पंखुड़ियां हिलीं और उनका रंग आहिस्ता-आहिस्ता सुर्ख़ होने लगा। ऐसा मालूम होता था कि फूल एक गहरी नींद से जाग रहा है। पतला डंठल और पत्तियां हरी हो गईं और देखते-देखते वह पनजाह साला फूल बिल्कुल ताज़ा नौ शगुफ़्ता[40] मालूम होने लगा। वह अभी अच्छी तरह खिला न था। बीच की कुछ पखुड़ियां लिपटी हुई थीं। उन पर शबनम की दो बूंदें भी चमक रही थीं।

डॉक्टर साहब के दोस्तों ने लापरवाही से कहा, "तमाशा तो बहुत अच्छा है लेकिन बतलाइये यह हुआ क्योंकर?" उन लोगों ने बाज़ीगरों के इससे भी कहीं अजीब शोबदे[41] देखे थे।

डॉक्टर घोष बोले, "क्या आप लोगों ने ज़ुल्मात[42] का नाम कभी नहीं सुना?

दयाराम—सुना ज़रूर है, मगर वहां का पानी किसी को मिला कब?

डॉक्टर घोष—इसलिये नहीं मिला कि किसी ने उसकी मुनासिब तलाश नहीं की। अब तहक़ीक़ से मालूम हुआ है कि ज़ुल्मात में आबे-हयात का एक चश्मा है। उसके किनारे बड़े-बड़े दरख़्त हैं जो कई सदियों के पुराने होने पर भी आज तक हरे-भरे हैं। मुझे इन इन्किशाफ़ों[43] का दिलदादा[44] समझ कर मेरे एक दोस्त ने थोड़ा-सा पानी मेरे पास भेजा है। वह इस प्याले में भरा हुआ है।

ठाकर विक्रम सिंह को इन बातों का यक़ीन न हुआ। ताहम उन्होंने पूछा, "हां होगा, लेकिन यह बतलाइये कि इस पानी का असर इन्सान के जिस्म पर भी हो सकता है?"

३५. पृष्ठों ३६. खिला हुआ ३७. अर्द्ध शताब्दी ३८. झुर्रीदार ३९. आश्चर्यजनक परिवर्तन ४०. नव विकसित ४१. करिश्मे, इन्द्रजाल, जादू ४२. वह घोर अंधकार जो सिकंदर को अमृतकुंड तक पहुंचने में पड़ा था, विशिष्ट अंधकार ४३. गवेषणाओं ४४. प्रेमी, आसक्त

डॉक्टर घोष—यह आपको अभी एक लख़्ते[४५] में मालूम हुआ जाता है। आप सब हज़रात इस पानी को बेतकल्लुफ़ पियें ताकि आपका शबाब एकबार फिर लौट आये। मुझे तो जवान होने की हवस नहीं है, क्योंकि मैं बहुत मुसीबतें झेलकर इस आलम तक पहुंचा हूं। अगर आपको शौक़ हो तो मैं इस पानी का तजुर्बा करूं। यह कहकर डॉक्टर घोष ने चार शीशे के गिलास निकाले और उन्हें उस पानी से भरने लगे। पानी में कोई जाननवाज़[४६] क़ूवत ज़रूर थी क्योंकि गिलासों के हाथ से छोटे-छोटे बुलबुले लगातार उठने लगे। वह ऊपर आकर चमकीली फुवार बनते थे और तब फूट जाते थे। इसके सिवा इनमें एक दिलआवेज़[४७] ख़ुशबू निकल रही थी। यह देखकर लोगों को पानी की तासीर का कुछ यक़ीन होने लगा हालांकि उन्हें यह बावर[४८] न होता था कि कोई बूढ़ा आदमी यह पानी पीकर जवान हो सकता है। ताहम सबके सब पानी पीने पर आमादा हो गये। डॉक्टर घोष ने उन्हें इस क़दर शायक़[४९] देखकर उनसे एक लम्हे तअम्मुल[५०] करने की दरख़्वास्त की और बोले—मेरे प्यारे और मुअज़्ज़िज़ दोस्तो! आप लोगों को पूरी ज़िन्दगी का तजुर्बा हो चुका है इसलिये पानी को नोश करने से पहिले कुछ ऐसे असूल-ए-ज़िन्दगी मुक़र्रर कर लीजिए ताकि शबाब की दुशवारियां दोबारा आपको ख़स्ता-ओ-ख़वार[५१] न करें और आप इस वादिए-तारीक[५२] से बख़ैरो-आफ़ियत[५३] गुज़र जायें। सोचिये कि गर्मोसर्द ज़माने के इतने तजुर्बे के बाद अगर आप मुहासिन-ए-अख़्लाक़[५४] में नौजवानाने दुनिया के लिये नमूना न बन सके तो कितने शर्म की बात होगी।

डॉक्टर साहब का यह वाज़[५५] सुनकर इन लोगों के चेहरों पर ख़फ़ीफ़[५६] सी मुसकराहट नमूदार हो गई। उन्होंने इसका कुछ जवाब न दिया। यह ख़्याल ही मज़्हकाख़ेज़[५७] सुना कि शबाब की ग़लतकारियों और लाउबलियों[५८] के ऐसे तल्ख़ तजुरबे के बाद यह लोग फिर अम्दन[५९] उसमें गिरफ़्तार होंगे।

डॉक्टर साहब ने अन्दाज़े तलत्तुफ़[६०] से कहा, 'अब आप लोग इसे शौक से पियें। मुझे बेइन्तिहा मसर्रत है कि मुझे अपने तजुरबे के लिये आप जैसे लायक आदमी मिल गये।'

नहीफ़[६१] हाथों से इन चारों आदमियों ने गिलासों को उठाकर होठों से लगाया। अगर फ़िलवाक़े[६२] डॉक्टर साहब के ख़्याल के मुताबिक इस पानी में जांबख़्श असर था तो इन आदमियों से ज़्यादा दुनिया में शायद ही किसी को इसकी ज़रूरत होगी। उनके बुश्रों[६३] से ऐसा गुमान होता था कि उन्होंने शबाब की सूरत ही नहीं देखी और मादरज़ाद[६४] बूढ़े थे गोया वह हमेशा से ऐसे ही ख़स्ता, मायूस और सुफ़ेद हो रहे थे। यह लोग डॉक्टर साहब की मेज़ के चारों

---

४५. ज़रा-सा, क्षण में ४६. जीवनदायी ४७. सुन्दर, मनोहर ४८. विश्वास ४९. शौक़ीन, प्रेमी ५०. सोच-विचार ५१. दुर्दशाग्रस्त, बरबाद ५२. अंधकारपूर्ण घाटी ५३. कुशलपूर्वक ५४. उपकार व शिष्टाचार, चरित्र रक्षण ५५. उपदेश ५६. थोड़ी, हल्की ५७. जिस पर हंसी आये, परिहासपूर्ण ५८. बेपर्वा और अंट शंट काम करना ५९. जान बूझकर ६०. कृपापूर्वक ६१. अशक्त, दुर्बल ६२. यथार्थतः ६३. मुखाकृति ६४. जन्मजात, पैदाइशी

तरफ़ झुके हुए बैठे थे। आने वाली जवानी की खुशी भी उनके चेहरों पर रौनक़ न पैदा कर सकती थी। उनके जिस्म और दिल बिलकुल बेजान हो गये थे। पानी पीकर उन्होंने गिलास मेज़ पर रख दिये।

मगर एक लम्हे में उन लोगों की हालत में एक खुशगवार तबदीली नमूदार हुई। उनके चेहरे रौशन हो गये। रौनक़ नज़र आने लगी। उनके ज़र्द और बेरंग रुख्सारों पर सुर्ख़ी पैदा हो गई। उन्होंने एक दूसरे की तरफ़ देखा। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि फ़िलवाक़े कोई बर्क़ी क़ूव्वत[६५] उनके जिस्म से इन अलामतों[६६] को मिटा रही है, जिन्हें बेरहम ज़माना अर्से दराज़ से नक़्श करता रहा है। मुसम्मात चंचल कंवर को ऐसा महसूस हुआ कि मुझ पर फिर जौबन आ रहा है। उसने एक अन्दाज़ से चेहरे पर घूंघट बढ़ा लिया।

सब लोग खुश होकर बोले, "थोड़ा-सा आबे-हयात और अता कीजिये। हम कुछ जवान ज़रूर हो गये हैं लेकिन अभी कुछ कसर है। लाइये जल्द एक गिलास और पिलाइये।

डॉक्टर घोष जो बैठे हुए अपने तजुरबे को आलिमाना दिलचस्पी के अन्दाज़ में देख रहे थे, बोले, "ज़रा सब्र कीजिये। आप लोगों को बूढ्ढे होने में बहुत दिन लगे थे, अगर जवान होने में आध घंटा लग जाये तो आप को बेसब्र न होना चाहिये। यह पानी हाज़िर है, आप लोग जितना चाहें पी सकते हैं।"

यह कहकर डॉक्टर साहब ने चारों गिलासों को दुबारा भरा। खुम[६७] में अब भी इतना पानी बाकी था कि शहर के आधे बुढ्ढे अपने नाती-पोतों के हमसिन[६८] हो सकते थे। अभी गिलासों में बुलबुले उठ ही रहे थे कि चारों आदमियों ने झपट कर मेज़ पर से गिलास उठा लिये और एक ही जुर्आ[६९] में खाली कर दिये। यक़ीनन यह आबे-हयात था। अभी पानी उन लोगों के हलक़ से उतरा ही था कि उनकी सूरत में इन्क़लाब पैदा होने लगा। उनकी आंखों में शबाब का सा नूर आ गया। सफ़ेद बाल सियाह होने लगे। एक लम्हा और गुज़रा। मेज के गिर्द चार बुढ्ढों की जगह तीन नौजवान मर्द बैठे थे और एक हसीन और गुलफ़ाम नाज़नीन[७०]। ठाकर विक्रम सिंह ने चंचल कंवर की तरफ मस्ताना निगाह से देखकर कहा, "प्यारी चंचल तुम पर इस वक़्त ग़ज़ब का निखार है।"

तन्वीर-ए-सुबह[७१] से जिस तरह तारीकी हटने लगती है उसी तरह चंचल कंवर का चेहरा शगुफ़्ता होता जाता था। उसे पुराना तजुर्बा था कि ठाकर साहब की मदह-सराईयां[७२] हमेशा सच्ची नहीं होतीं। इसलिये वह दौड़ी हुई आईने के सामने गई और उसमें अपनी सूरत देखने लगी। उसे अब भी खौफ़ था कि कहीं बुढ़ापे की मकरूह सूरत[७३] न नज़र आये। बाकी तीनों आदमियों के अन्दाज से ऐसा मालूम होता था कि इस पानी में कुछ नशा-अंगेज़ सिफ़्त है। शायद इसका यह ही सबब हो कि बुढ़ापे का बोझ सर से उतर जाने के बाइस खुशी के मारे

६५. विद्युतीय शक्ति ६६. चिन्हों ६७. घड़ा, मद्यपात्र ६८. समव्यस्क ६९. एक घूंट ७०. पुष्पांगी सुन्दरी ७१. प्रातः कालीन प्रकाश ७२. प्रशंसाए, तारीफ़ें, ७३. घृणित आकृति, भद्दी

मतवाले हो गये थे। बाबू दयाराम मुल्की मसायल पर ग़ौर कर रहे थे लेकिन उन मसायल का तअल्लुक़ ज़माना-ए-हाल से था या माज़ी या इस्तिक्बाल[७४] से इसका पता लगाना मुश्किल था। कभी तो वह ब-आवाज़े-बुलन्द हुब्ब-ए-वतन[७५] खिदमते-क़ौम या हुक़ूके-इंसान[७६] पर तक़रीर करने लगते। कभी किसी खुफ़िया मामले के मुतअल्लिक ऐसी दबी ज़बान से सरगोशी करते कि उन्हें अपनी ही आवाज़ न सुनाई देती थी और कभी रुक-रुक कर निहायत मुअद्दिबाना अन्दाज़[७७] से बोलने लगते गोया किसी हाकिमेआला[७८] के रूबरू बोल रहे हों। ठाकर विक्रम सिंह भी कोई चलती हुई चीज गुनगुना रहे थे और गिलास पर अंगुलियों से ताल भी देते जाते थे। उनकी आंखें चंचल कंवर के हसीन चेहरे की तरफ़ लगी हुई थीं। मेज़ की दूसरी तरफ सेठ करोड़ीमल रोकड़ और खाते की धुन में मह्‌व[७९] थे और सोच रहे थे कि अगर हिमालय पहाड़ से बरफ़ के तोदे काट-काट कर लाये जायें तो कितना नफ़ा हो, और चंचल कंवर आईने के सामने खड़ी अपनी सूरत देख-देख कर खुशी से मुसकरा रही थी। रह-रह कर वह अपना चेहरा आईने के करीब ले जाकर यह देखने की कोशिश करती थी कि कोई पुराना दाग़ तो बाक़ी नहीं रहा। इन्हें अपने निखार पर अब कामिल इतमिनान न हुआ। इन्हें याद आता था कि मैं शबाब में इससे ज़्यादा हसीन थी। आखिर वह एक अन्दाज़ से घूंघट उठाये हुए मेज़ के क़रीब आई और बोली, "डॉक्टर साहब बराहे-करम मुझे एक गिलास और दे दीजिये"

डॉक्टर घोष ने हंसकर कहा, "हां-हां, शौक़ से लीजिये। यह देखिये मैं गिलास भरे देता हूं।"

आबे-हयात से लबरेज़ गिलास मेज़ पर रखे हुए थे। उनसे निकलने वाली महीन फुहारें हीरों के रेज़ों[८०] की तरह चमक रही थीं। सूरज डूब चुका था। इसलिये कमरे में ज़्यादा अंधेरा हो गया था लेकिन खुम से चांदनी की हल्की सी रोशनी निकल कर डॉक्टर और उनके दोस्तों के चेहरों पर पड़ रही थी। डॉक्टर साहब के चेहरे पर पड़ी हुई झुर्रियां और उसकी ज़र्दी इस रोशनी में और भी वाज़े हो रही थी।[८१]

तीसरा गिलास पीते ही इन चारों आदमियों की रगों में जवानी की उमंगें लहरें मारने लगीं। अब उनका उन्फ़ुवाने शबाब[८२] था। जोशे-मसर्रत[८३] उनके दिलों में न समाता था। मायूसी और ग़मेज़ाफ़[८४] और बेकसी का बुढ़ापा अब उन्हें एक ख्वाब-सा मालूम होता था जिसे उन्होंने अर्सा हुआ देखा था। उन्हें अब हर एक चीज़ में एक खास रौनक नज़र आने लगी। वह रूहानी शगुफ़्तगी जिससे वह लोग क़ब्ल अज़वक़्त महरूम[८५] हो चुके थे और जिसके बग़ैर दुनिया के दिलफरेब नज़ारे उन्हें धुंधली तस्वीरों की तरह नज़र आते थे, फिर उन पर तमन्नाओं का जादू करने लगी। उन्हें ऐसा मालूम होता था कि हम एक नई दुनिया के नये

---

७४. अतीत या भविष्य ७५. देश-भक्ति ७६. मानवीय अधिकार ७७. सभ्य तरीका ७८. उच्चाधिकारी ७९. लीन, मस्त ८०. कणों ८१. प्रकट ८२. यौवनारम्भ, जवानी की उठान ८३ प्रसन्नता का आवेग ८४. शोक पीड़ित, संत्रास ८५. समय से पूर्व।

वजूद[८६] हैं। सबके सब झूमकर बोले, "हम जवान हो गये। हम जवान हो गये।" फ़िलवाक़ेई[८७] यह सबुकसर[८८] नौजवानों की एक एक जमाअत थी जिन्हें तक़ाज़ाए सिन[८९] ने शोरीदासरी[९०] पर मायल[९१] कर दिया था। उनकी खुशफेलियों[९२] का सबसे अजीब पहलू यह था कि उन लोगों को इस पीरी[९३] और नक़ाहत[९४] का मज़्हक़ा[९५] उड़ाने की दिली तहरीक हो रही थी जिससे अभी अभी उनकी गुल्ख़लासी[९६] हुई थी। वह अपनी पुरानी वज़ा के कपड़ों को देखकर खूब क़हक़हे मारकर हंसने लगे। एक साहब वजाए मफ़ासिल[९७] के दर्द से कराहते हुए बूढ़े बाबा की नक़ल करके लंगड़ा-लंगड़ा कर चलने लगे। दूसरे साहब नाक पर ऐनक रखकर जादू की किताब को ग़ौर से पढ़ने का बहाना करने लगे। तीसरे साहब एक आराम कुर्सी पर बैठ गये और डॉक्टर घोष की बुजुर्गाना मतानत[९८] की नक़ल करने लगे। फिर सब के सब बग़लें बजा-बजा कर कमरे में कूदने-फांदने लगे। मुसम्मात चंचल कंवर एक दिलरुबाना अन्दाज़ से डॉक्टर साहब के पास आई। उनके गुलाब से रुखसारों पर एक दिलफ़रेब और शरारत आमेज़ शोखी थी। डॉक्टर से बोली, "प्यारे डॉक्टर, उठ खड़े हो, ज़रा मेरे साथ नाचो।" इस पर चारों आदमियों ने यह सोचकर क़हक़हा मारा कि डॉक्टर साहब इस हसीना के पहलू में कैसे हवन्नक़[९९] मालूम होंगे।

डॉक्टर साहब ने मतानत से कहा, "मुझे माफ़ कीजिये। मैं बूढ़ा हूं गंठिये ने नाक में दम कर रखा है। मेरे नाचने के दिन कब के रुखसत हो गये, लेकिन इन तीन नौजवानों में से कोई भी तुम्हारे साथ नाचने के लिए जान दे देगा।"

ठाकर सिंह ने फ़र्माया, "चंचल मेरे साथ नाचो।"

बाबू दयाराम बोले, "नहीं, वह मेरे साथ नाचेंगी।"

लाला करोड़ीमल ने कहा, "वाह, मैं इनका पुराना रफ़ीक़ हूं। पचास साल हुए उन्होंने मेरे साथ नाचने का वायदा किया था।"

यह कहते-कहते तीनों आदमी चंचल कंवर के गिर्द खड़े हो गये। एक ने बेताब होकर उसके दोनों हाथ पकड़ लिये। दूसरे ने उसकी क़मर में हाथ डाल दिया और तीसरे साहब ने उसकी उम्बरीं[१००] ज़ुल्फ़ों का बोसा लेना शुरू किया। चंचल कंवर लजाती थी, त्योरियां बदलती थी, कोसती थी, हंसती थी, तड़फड़ाती थी। उसकी गर्म-गर्म सांस बारी-बारी से उन तीनों आदमियों के मुंह पर वह काम कर रही थी जो हवाए सर्द[१०१] नशा करती है। वह उनके बीच से निकलने के लिये ज़ोर कर रही थी लेकिन कुछ बस न चलता था। एक

---

८६. अस्तित्व, हस्ती ८७. यथार्थतः, सचमुच ८८. लोफ़र ८९. आयु की मांग ९०. दीवानगी, पागलपन ९१. प्रवृत्त ९२. मनोविनोद, मज़ाक ९३. वृद्धावस्था ९४. निर्बलता ९५. उपहास, निंदा ९६. बन्धन मुक्ति, छुटकारा ९७. बीमारी ९८. निर्बलता ९९. घिनौने १००. काली, चमकोली ज़ुल्फें १०१. ठण्डी हवा

जादूतराज़ माशूका[१०२] की हमदोशी[१०३] के लिये ऐसी सरगर्म रक़ीबाना कशमकश[१०४] का नज़ारा किसी ने कम देखा होगा। मगर कमरे में रखे हुये कद्दे-आदम शीशे में कुछ और ही माजरा नज़र आता था। वहां तीन कुहन साल[१०५] और खस्ता हाल बूढ़े एक खमीदा कमर[१०६] मकरूह[१०७] और झुर्रीदार बुढ़िया से हम आग़ोश होने के लिये दस्त-ब-गरीबां[१०८] थे।

लेकिन वे नौजवान थे। उनकी मस्ती इसका सुबूत थी। चंचल कंवर की इश्वागरी[१०९] और परहेज़ से बेखुद होकर तीनों रक़ीबों ने बाहम खश्मगीं नज़रें[११०] डालनी शुरू कीं। हसीन माशूका से चिपटे हुये वह एक दूसरे पर पिल पड़े। हाथा पाई और धोल-धप्पा शुरू हुआ। इस झमेले में मेज़ को ठोकर लगी और वह उलट गई। शीशे का खुम गिर कर चूर-चूर हो गया और वह आबे-जिन्दगी एक दरखशां[१११] धार की सूरत में फर्श पर बह निकला। एक नीम जान[११२] तितली ज़मीन पर पड़ी सिसक रही थी। उसके पर इस धार से तर हो गये। वह फुर्र से उड़ कर डाक्टर घोष की टोपी पर जा बैठी। डॉक्टर घोष बोले, "बस-बस, यारो बस, चंचल कंवर बस। अब बहुत हुआ। मुझे यह हंगामा क़तई पसन्द नहीं।" वह सबके सब खामोश हो गये। उन्हें लरज़ा-सा आ गया। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि पीरे फ़र्तू न[११३] ज़माना हमें सबाब के इस सब्ज़ाजार[११४] से फिर पीरी की तारीक वादी[११५] की तरफ़ खीचे लिये जाता है। उन्होंने डाक्टर घोष की तरफ़ देखा। वह उस पंजाह साला फूल को लिये हस्बे स विक़[११६] बैठे हुये थे, जिसे उन्होंने खुम के टुकड़े में से निकाल लिया था। उसके हाथों का इशारा पाते ही चारों बाद-ए-मस्ती[११७] के मतवाले अपनी-अपनी जगहों पर आ बैठे। हांलाकि वह जवान थे, पर इस कशमकश और खरमस्ती[११८] ने उन्हें बेदम कर दिया था।

डाक्टर घोष ने फूल को शफ़क़[११९] की रोशनी में देखकर कहा—अफ़सोस यह फूल फिर मुरझाया जाता है। यह बिलकुल सही था। इन लोगों के देखते-देखते फूल ऐसा खुश्क और चुरमुरा हो गया, जैसा खुम में डालते वक़्त था। डाक्टर ने उसकी पंखड़ियों पर लगी हुई पानी की बूंदों को हिलाकर गिरा दिया और उसे अपने सूखे हुए होठों से लगाकर बोले, "मेरे लिये यह अब भी ताज़ा और शगुफ़्ता है।" डाक्टर साहब के मुंह से यह इल्फाज़ निकल रहे थे कि तितली फड़फड़ाई और उनके सर पर से ज़मीन पर गिर पड़ी।

डाक्टर साहब के दोस्तों के जिस्म में फिर रअशा[१२०] हुआ। एक अजीब क़िस्म की बुरूदत[१२१]। मालूम नहीं उनके ज़िस्म या दिल पर डोरती चली जाती थी। वह एक दूसरे की तरफ़ ताक रहे थे। उन्हें ऐसा ख्याल होता था कि हर एक लम्हे उनके गुले-शबाब[१२२] को

---

१०२. मायावी प्रेमिका १०३. संगत, साथ १०४. मैत्रीपूर्ण खींचातानी, संघर्ष १०५ वयोवृद्ध १०६. झुकी तुई कमर १०७. विकृत, घृणित १०८. गले में हाथ डालना १०९. भाव भंगिमा ११०. कुपित दृष्टि १११. चमकीली ११२. अधमरी ११३. जर्जर ११४. प्रसन्नता, नवजीवन, हरियाली ११५. अंधेरी घाटी ११६. यथापूर्व ११७. उमंग की शराब, उमंग की लहर ११८. अल्हड़ता ११९. सूर्य १२०. कम्पन १२१. शीतलता १२२. योवन-पुष्प

तोड़कर उसकी जगह एक-एक दाग़ छोड़ता चला जाता था। क्या यह बिलकुल मुग़ालता नज़री[123] था? क्या मुद्दत-उल-उमर[124] की तबदीलियां इतने मुख़्तसर लम्हों को समेट दी गई थीं? और वे सब के सब चार कुहन साल बूढ़े थे जो अपने पुराने दोस्त डाक्टर घोष के साथ बैठे हुए थे। इन लोगो ने मायूसाना लहजे में कहा—क्या हम फिर इतनी जल्दी बुढ्ढे हो गये? हां, इनका शबाब रूख़सत हो चुका था। इस आबे-हयात में शराब के नशे से भी सरीय तासीर[125] थी। इससे पैदा होने वाली शोरीदगी सिर्फ़ तन्ज़ीर[126] हो चुकी थी। बुढ़ापे ने फिर उन पर अपना सियाह लबादा डाल दिया था। चंचल कंवर ने एक आलमे-बेबसी[127] में अपना चेहरा मुस्तर सिफ़त[128] अंगुलियों से ढक लिया। उसके दिल में बेअख़्तयार ख्वाहिश पैदा हुई कि जब हुस्न ही न रहा तो क्यों न इस पर कफ़न का पर्दा पड़ जाये। नसाईयत[129] का यही एक हुस्न उसमें बाक़ी रह गया था।

एक लम्हे की ख़ामोशी के बाद डाक्टर घोष ने फ़र्माया, "दोस्तो! अफ़सोस है कि आप फिर बूढ़े हो गये। देखिये आबे-हयात से ज़मीन तर हो गई है लेकिन अब मुझे इसका मुतलक़ ग़म नहीं, क्योंकि अगर चश्मे-हयात[130] मेरे दरवाज़े ही पर लहरें मारे तो भी मैं उससे अपने होंठ न तर करूं चाहे लम्हों के बदले उसका नशा बरसों तक क्यों न क़ायम रहे। आप लोगों से आज मुझे भी इबरत[131] हासिल हुई है।" लेकिन डाक्टर साहब के अहबाब को यह इबरत न हुई। उन्होने चश्मे-हयात के सफ़र का मुसम्मिम[132] इरादा किया, जहां वह सुबह-दोपहर-शाम हसबे-ख्वाहिश[133] आबे-हयात नोश[134] करें और सदाबहार जवानी का लुत्फ़ उठायें।

(सुबहे उम्मीद, मार्च १९२० से साभार)

---

१२३. दृष्टि भ्रम १२४. आयु सीमा १२५. अधिक प्रभाव १२६. भयभीत, डराना
१२७. विवशता की दशा १२८. पंक्तिबद्ध, जुड़ी १२९. सदुपदेश, सीख १३०. अमृतधार
१३१. शिक्षा १३२. दृढ़, पक्का १३३. इच्छानुसार १३४. अमृत, पीने वाला, पीयें।

पुस्तकें और पुस्तकें

भाष, शहादत तथा आग का कवि नरेन्द्र मोहन[1]

—हुकुमचंद राजपाल

नरेन्द्र मोहन समकालीन कविता का एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। उसने कविता में कई प्रयोग किए हैं। विचार कविता से यात्रा आरम्भ कर समकालीन कविता में 'सामना होने पर' काव्य-संग्रह से पदार्पण। इस संग्रह में कवि की सन् १९७५ से ७९ तक रचित कविताएं संकलित हैं। प्रत्येक कविता शीर्षक के अनुरूप है तथा समकालीन बोध को उजागर करती है। इनमें कवि की प्रौढ़ता, एहसास एवं समझ को एक साथ देखा जा सकता है। वस्तुतः विचार कविता का पक्षधर नरेन्द्र मोहन प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में समकालीन बोध के प्रति अधिक जागरूक रहा है। इनमें वैचारिक प्रतिबद्धता, व्यंग्य का पैनापन एवं विसंगति-बोध की गहनता स्पष्ट है।

इस काव्य-संग्रह के आरम्भ में 'इस हादसे में' (कवि का पहला कविता-संग्रह 'इस हादसे में') कविता पर बना छवि-चित्र आकर्षक है एवं युग-बोध की सार्थक अभिव्यक्ति करता है। अधिकांश कविताओं को ऊपरी धरातल पर देखने से समस्याओं की स्थूल अभिव्यक्ति का आभास होगा परन्तु इनमें कवि का लक्ष्य गहन है। वह सहज भाषा एवं समस्या के यथार्थ धरातल पर अपनी बात कहता है पर विकास-क्रम में उसका वक्तव्य एक बहुत बड़ा तथ्य अथवा निष्कर्ष प्रस्तुत करने लगता है। 'मृत्यु-स्वाधीन' कविता में कवि 'सच के चेहरे के निर्विकार एवं धुनी होने' से आरम्भ करता है तथा अन्त में यह कह कर कविता समाप्त करता है कि 'तब सच और शहादत और स्वाधीनता में/कोई फर्क नहीं रह जाता' (पृष्ठ २८)।

कुछ कविताओं के शीर्षक संवादात्मक एवं प्रश्नात्मक हैं। 'आपकी क्या सलाह है', 'इस बच्चे को क्या हुआ है ?', 'वहां क्या दुर्घटना हुई है ?' 'आखिर कब तक' ? कविताओं में उसका आक्रोश व्यक्त हुआ है—'तने हुए चेहरे/कसी हुई मुट्ठियां/सामने की चीज़ें/ठेठ, वजनी और विस्फोटक (पृष्ठ ६२)। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में आज के मनुष्य की बहुपक्षी यातनाओं को व्यक्त किया गया है। इसमें कवि कहीं भाषा, व्याकरण, शब्द, मुहावरे, छंद

१. **सामना होने पर**—नरेन्द्र मोहन/नई दिल्ली : प्रवीण प्रकाशन, १९७९/पृष्ठ संख्या ७२/ मूल्य २० रुपये मात्र।

इत्यादि की समस्या से व्यक्ति और युग की आपाधापी को व्यंजित करता है तो कहीं व्यक्ति और युग की समस्या से भाषा की चर्चा संश्लिष्ट रूप में करना चाहता है। इसीलिए बिम्ब योजना का सम्यक् निर्वाह हो पाया है। समकालीन कविता में वर्तमान बदलाव को आदमी तथा युग के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। प्रस्तुत काव्य-संग्रह की अधिकांश कविताएं इस आशय से प्रेरित हैं। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। दोनों समस्याओं को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसी संश्लिष्ट स्थिति के कारण अनेक कविताओं में बिम्ब योजना का सम्यक् निर्वाह हो पाया है। 'इस बच्चे को क्या हुआ है?' कविता में कवि का संकल्प व्यंग्यात्मक एवं गहरी खीझ का है। वह इसे बच्चे, डॉक्टर तथा चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करता है। 'नीली पोशाक' सहज एवं सपाट भाषा में युग की सही स्थिति को व्यक्त करने वाली एक सशक्त कविता है। कभी वह नीली पोशाक में बदलने लगता है तो कभी नदी में डूबने का उल्लेख करता है—एकाएक वैयक्तिक सन्दर्भ में वह आत्मलीन हो जाता है—'मां के घुटनों का कभी न खत्म होने वाला दर्द पिता की चरम हताशा, तनाव और घबराहट और हुक्के की लगातार गुड़-गुड़ में रुका-थमा मैं/सन्नाटे को काट कर बनायी गयी सड़कें और पेड़/उतरने जा रहे हैं/नीली पोशाक वाले लड़के के भीतर (पृ० ४७)।

'दफन होते हुए' कविता के अन्त में वह आजके व्यक्ति की स्थिति को इस प्रकार व्यक्त करता है—'वह रोते-रोते/हंसने लगना है/हंसते-हंसते हकलाने लगता है/हकलाते-हकलाते एक चुप्पी में दफ़न होने/दफ़न होते हुए/तालियां बजाने—" (पृष्ठ २३)। इतना ही नहीं बेहतर ज़िन्दगी जीने की आदत डालना और आत्महत्या करना एक जैसा प्रतीत होना समकालीन युग का ज्वलंत प्रमाण है। युगीन सन्दर्भों से सम्बद्ध कविताओं में जहां आज के मनुष्य की विवशता, पीड़ा, तनाव, कुण्ठा व्यंजित हैं वहां उसमें 'आग' के रूप में आक्रोश भी विद्यमान है। इसीलिए अनेक कविताओं में कवि की युवावस्था की उत्तेजना, बदलाव की उत्कण्ठा है, तभी तो वह मानता है कि 'कविता में/एक बारूदी सुरंग/फट पड़ने को तैयार है (पृष्ठ २४)।

'मुक्तिबोध को याद करते हुए' कविता में वह कवि का प्रभाव स्वीकार करता है क्योंकि अंधेरे और फंतासी की सही स्थिति को उसने काव्य में उतारा था। आज सब कुछ वह यथार्थ रूप में देख रहा है—इसीलिए कविता के अन्त में कहता है—'मुझे कुछ नहीं दीखता/बाहर न भीतर सभी रंग बदरंग हो/घुलते जा रहे/अंधेरे में' (पृष्ठ ३३)।

प्रस्तुत संग्रह की कुछ कविताओं में वह ऐसे शब्दों का अनायास अथवा सायास प्रयोग भी करता है जिनसे युगीन विसंगति का बोध तो होता है पर काव्य का संवेदना-स्तर क्षीण होने लगता है। उसे सब कुछ गड़बड़ सरीखा प्रतीत होता है—कहीं-कहीं बाहर और भीतर चिचका हुआ है। वस्तुतः काव्य की श्रेष्ठता में भले ही इस प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति बाधक रही हो पर समकालीन कविता की दृष्टि में ऐसा अपेक्षित है।

जहां तक मूल्य-चेतना का प्रश्न है कवि ने यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए व्यक्ति के बाहर तथा अन्दर दोनों रूपों को देखा है। मूल्य-हीनता, अस्तित्व-हीनता में वह मूल्यों के प्रति एक सही दृष्टि को आत्मसात् किए है। इसीलिए भाषा, मुहावरों, शब्द, छद के माध्यम से जहां

वह काव्य-मूल्यों के बदलाव को सूचना देता है, वहां व्यक्ति को आत्म-निष्ठ, दृढ़ एवं साहसी होने का संकल्प भी देता है। उसे पलायन कतई पसन्द नहीं, जीवन की चिरन्तनता एवं गति में उसे विश्वास है, इसीलिए क्षणिक बाधाओं का वह मुकाबला करता है। यहां यह भी उल्लेख्य है कि वह परम्परा-मोह से ग्रसित भी नहीं है। 'पोले कविवर' कविताओं में वह अपने संकल्प को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। उसका विश्वास है—'देखता हूं चीज़ों की/सक्रिय सत्ताओं और संयोजन गुणों को/कैसे नजर-अन्दाज कर सकते हो/आखिर कब तक/छिपाये रख सकते हो/अपनी काईयां/हरकतें और खूनी हाथ' (पृष्ठ ६२)।

हमें तो कवि की मूल्य-चेतना का परिचय 'भाषा-कर्म' में अधिक सटीक प्रतीत होता है। यथा—'मरते हुए आदमी को पहचान का नग्न और ठोस संकेत/भाषा देना शुरू कर दे/और हमारे हाथ और तलवे/महसूस करने लग जाएं आग' (पृष्ठ १८)। वस्तुतः समकालीन कविता का महत्वपूर्ण हस्ताक्षर धूमिल 'पटकथा' में हाथ, आंसू और आग की जिस स्थिति को दिखलाता है वह आग को जिन विभिन्न सन्दर्भों में देखता है—नरेन्द्र मोहन की आग का सन्दर्भ उससे स्पष्ट एवं भिन्न अन्दाज का है और वह परिवर्तन एवं सही जीवन जीने के लिए 'आग' का प्रयोग करता है।

'पागल की तरह आंखें मिचमिचाना', 'शब्द संसार का प्रकम्पित होना', 'चीज़ों का संयोजन के लिए अकुलाने लगना', 'चाकू की तरह खुलते और बंद होते घर के दरवाज़े', 'चुप्पी के लौह गोले का समुद्र में धंसना', 'मुहावरे में लिपटी हुई लाश', 'चेहरे में चमड़ायी हुई सहमी चिड़िया का फड़फड़ाना', 'कस्बे का रगों में दौड़ना', 'नीली पोशाक में बदलना', 'सुलगता धुआं', 'संवादहीनता की अंधेरी घाटी', 'आंखों में जेल के पिछवाड़े की मुलायम घास का उगना', 'सत्य को लकवा मारना', 'पुस्तक दोहना', 'हाथ का भाषा के अंधेरे में कौंधना' इत्यादि कुछ अच्छे एव स्थिति-अनुकूल प्रयोग हुए हैं। रोना-हंसना, मरना-जीना, चुप्पी-भभक, डूबना-बचना का प्रयोग कहीं-कहीं सामान्य धरातल पर भी हुआ है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि 'सामना होने पर' में संकलित कविताओं में अधिकांश समकालीन बोध को व्यक्त करती हैं। लम्बी कविताओं एवं विचार कविता का पक्षधर कवि इस संग्रह में नवीन शैली को अपनाए है। उसकी ऊपरी धरातल पर दीखने वाली सहज भाषा में उक्तियां, समस्याएं अत्यंत व्यापक एवं गहन सन्दर्भ संजोये हैं। भाव-गाम्भीर्य एवं सार गहनता की दृष्टि से 'कब्र-चित्र' क्षणिका उल्लेख्य है—'सारे सम्बन्धों के लिए/हमने कब्र का एक आकर्षक चित्र बनाया/और उसे फटी आंखों/देखते रहे सोचते रहे/चित्र चित्र है/कब्र नहीं' (पृ० ४६)। इतना ही नहीं, हम नरेन्द्र मोहन को शहादत का कवि मानते हैं क्योंकि वह स्वयं मानता है—'यहीं से शुरू होती है/वह विचार यात्रा/जो एक कार्यवाही में ढलती है/रफ्ता-रफ्ता/एक शहादत कविता में' (पृ० ७२)।

अतः इस संग्रह के आधार पर नरेन्द्र मोहन को भाषा, शहादत एवं आग का कवि मानना न्यायसंगत होगा। 'सामना होने पर' पुस्तक का शीर्षक भी इस धारणा की पुष्टि करता है।

●

आपकी बात

●

● **शीराज़ा ४६ । अपनी बात** के तीनों अवतरण सावधानी से पढ़ गया । साहित्य में उठा-पटक की राजनीति और उसका शिकार बनने वाली नयी प्रतिभाएं, स्थापित प्रतिभाओं का अब नया कुछ न दे पाना और नयी-नयी प्रतिभाओं को अवसर देने की ज़िम्मेदारी **शीराज़ा** जैसी पत्रिका द्वारा अपने माथे ले लेना—यह सब कुछ, मैं समझता हूं, सम्पादकीय-बड़बोलापन है ।

नवोदित प्रतिभाओं को प्रोत्साहन ज़रूर दें, उनकी पीठ अवश्य थपथपाएं, मगर स्थापित रचना-कर्मी चुक गए हैं, कृपया ऐसा न सोचें और न कहें । दरअसल, ऐसी असंयत और अविचारी संपादकीय टिप्पणियां ही उठा-पटक की राजनीति को जन्म देती हैं और नए और पुराने की खाई अनायास ही नमूदार हो जाती है जिसे फिर खूब छाती पीटने पर भी पाटा नहीं जा सकता । **शीराज़ा** को नये-पुराने की इस नाकाबन्दी से दूर ही रखें तो बेहतर होगा ।

—शिबन कृष्ण रैणा

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर (राज०)

● **शीराज़ा** का कोई एक अंक नए हस्ताक्षरों को समर्पित करने की योजना प्रेरद साबित होगी ।

"बाघ" कहानी का अंदरूनी तक़ाज़ा, रचनात्मक अनुरोध एक ही प्रहार में हमें दो फांक कर जाता है । प्रत्येक फांक पर वही व्याघ्र-चर्म खोल बन कर चढ़ा मिलेगा । सत्ता दर सत्ता, पीढ़ी दर पीढ़ी वह एक निरंतर विरासत में चलता आ रहा है, चलता जा रहा है । लेखक बन्धु को बधाई दें ।

शीराज़ा—४८ में छपे मेरे पत्र पर डॉ० अनिल की टिप्पणी । मुझे लग रहा है कि सारी बात को एक ग़लत ज़ाविए से देखा और दिखाया जा रहा है । इस पर तुर्राह यह कि अब इस ज़मीन पर लेखकीय निष्ठा, ईमानदारी का झंडा गाड़ कर क़ाबिज़ होने का नाजायज़ दावा भी किया जाने लगा है । मैं अपनी कैफ़ियत की वज़ाहत कर चुका हूं । न तो मैं किसी विवाद का इरादा रखता हूं और न किसी बेमाइना बहस के लिए आमादा ही हूं ।

कागज़-स्याही के ज़ाया न किए जाने, फ़िज़ूल में पाठकों के वक़्त बरबाद न करने के मुद्दे पर मैं डॉ० अनिल के साथ हूं ।

श्री कुंदन कुमार की बेलौस और सपाट कविताएं हवा के ताज़े झौंके की मानिन्द आईं । उन्हें बधाई दें !

—चन्द्रशेखर

हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

● **शीराज़ा** का फ़रवरी-मार्च १९८० अंक मिला । धन्यवाद । 'अकादमी डायरी' में अखिल भारतीय हिन्दी लेखक सम्मेलन के विवरण के सन्दर्भ में मुझे कहना है कि सक्षेप में लिखने की अपनी ज़रूरत के कारण आप उस चर्चा की चर्चा नहीं कर पाए जो 'अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखक' के प्रश्न को लेकर हुई थी। मैंने, अशोक जेरथ, आदर्श तथा कुछ अन्य साथियों ने साफ़ शब्दों में कहा था कि 'हम हिन्दी-लेखक हैं इतना काफ़ी है । हिन्दी हमारी अर्जित भाषा है तो इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि हम अपनी हिन्दी को किसी तरह से सेकंड रेट मान लेंगे । इस तरह की कोई कुंठा पाले बिना हिन्दी के युवा लेखक को आगे बढ़ना चाहिए और हिन्दी के स्थापित लेखक-आलोचक को भी इस संदर्भ में अपना नज़रिया बदलना चाहिए क्योंकि इससे हिन्दी साहित्य के विकास में बाधा पड़ती ही है, हिन्दी भाषा के सर्वदेशीय रूप को भी क्षति पहुंचती है ।' यह बात भी उभर कर सामने आई थी कि जो मूलतः हिन्दी-लेखक है उसके लेखन को अनूदित लेखन से वरीयता देनी ही होगी चाहे यह अनुवाद लेखक ने स्वयं किया हो ।

श्री पुरी ने भाषा सम्बन्धी जो प्रश्न उठाए थे उनके संदर्भ में मेरा विनम्र निवेदन है कि भाषा तथा साहित्य मूलतः दो अलग चीज़ें हैं । उनके प्रचार-प्रसार, अध्ययन-अध्यापन की प्रविधियां पूरी तरह अलग हैं । हिन्दी राष्ट्र भाषा साहित्यिक समृद्धि के बल पर नहीं बनाई गई बल्कि इसलिए बनाई गई कि इसके समझने-बोलने वाले लोग भारत में सबसे अधिक हैं ।

—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

● **शीराज़ा** का मार्च, ८० अंक मिला । हृदय से आभारी हूं । 'आधुनिक हिन्दी कहानी का सामाजिक बोध' शीर्षक परिचर्चा आधुनिक हिन्दी कहानी के दिशाबोध को गहराई से रेखांकित करती है और चर्चा में भाग लेने वाले साहित्यकारों की दृष्टि का भी अच्छा परिच- देती है । विस्तार में जाकर की गई परिचर्चा बहुत उपयोगी सिद्ध होगी ।

—से० रा० यात्री

एफ०/ई० ७, नया कवि नगर, गाज़ियाबाद—२०१००१

● **शीराज़ा** का ४९वां अंक, जो 'उन प्रतिभाओं को समर्पित है जिनके कन्धों पर भविष्य टिका हुआ है', देखा। प्रतिवर्ष 'शीराज़ा' का एक अंक इन नई प्रतिभाओं को समर्पित किया जायेगा—अकादमी की यह योजना ठीक ही है। '...नई से नई प्रतिभाओं को अवसर देने की ज़िम्मेदारी शीराज़ा जैसी पत्रिकाओं को निभानी है।' यह कथन भी कानों में मिश्री घोलता है। 'शीराज़ा' और शीराज़ा जैसी पत्रिकाएं, अपने-अपने घेरे में रहकर कितनी स्वतन्त्रता से, इस ज़िम्मेदारी को सही अर्थों में निभा पायेंगी समय ही बता सकेगा। प्रकाशन के क्षेत्र में फैले बड़े नामों के आतंक ने इस प्रकार की प्रतिभाओं को आज ही नहीं, कल भी और कल भी, ढक लिया है, ढक लिया था और ढक लेंगी। इस 'ढकन-प्रक्रिया' का शिकार नई से नई प्रतिभा ही नहीं 'अन्य प्रतिभाएं' भी हो रही हैं, हुई थी, होंगी।

'अपनी बात' के ही अनुसार शीराज़ा में प्रकाशित नए हस्ताक्षरों में से यदि एक ने भी सही लेखन के मर्म को पकड़ा तो वह इस अंक की अभूतपूर्व सफलता होगी तथा पाठकों की विस्तार से लिखी टिप्पणियां उन्हें रचनाधर्मिता के आधुनिक तकाज़ों को पूरा करने में सहायक सिद्ध होंगी।

सवाल यह है कि आधुनिक लेखन के सन्दर्भ में सही लेखन है क्या? और, क्या एक साधारण पाठक की विस्तार से लिखी टिप्पणी ही रचनाधर्मिता के आधुनिक तकाज़ों को पूरा कराने में समर्थ हो सकती है?

'शीराज़ा' के अन्य (असमर्पित) अंकों में यदि, 'उठा-पटक की राजनीति' से ऊपर उठ कर, स्थापित और नई प्रतिभाओं का समुचित संतुलन बना रहे तो बेहतर होगा।

—पृथ्वी नाथ 'मधुप'
केन्द्रीय विद्यालय नं० २, जम्मू छावनी–१८०००३

● **शीराज़ा**–४९ मिल गया था, धन्यवाद। नयी प्रतिभाओं को ढूंढ निकालने का यह काम बेशक सराहनीय है।

'बाघ' तथा 'लहराती हुई पूंछ' कहानियां अच्छी लगीं। डॉ० चन्द्रशेखर का लेख विद्वत्तापूर्ण तो है मगर बोझल सा हो गया है (भाषा के एतबार से)। सर्वश्री महीप सिंह, राम दरश मिश्र तथा आपका पूर्व-प्रसारित परिसंवाद रोचक लगा। उपरोक्त रचनाओं ने पत्रिका के स्तर को कायम रखा है। हां, कुछ कविताएं भी सुन्दर बन पड़ी हैं। युवा-कवियों में कुछ नयी बात कहने का साहस और 'शऊर' दिखाई देता है। बात कैसे कही जाए अर्थात् कलापक्ष भी जानदार बन पड़ा है या कि नहीं इस ओर हमारा आज का युवा कवि कम ध्यान दे रहा है। कुशल सम्पादन के लिए बधाई।

—बन्धु शर्मा
४८, पक्की ढक्की, जम्मू

● शीराज़ा हिन्दी ४९ मिला। अंक रोचक लगा। नवीन प्रतिभाओं के प्रोत्साहन का उद्देश्य जितना पुनीत है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। कुशल सम्पादन के लिए बधाई।

—डॉ० प्रियतम कृष्ण कौल

डिग्री कालेज, पुंछ (जम्मू-कश्मीर)

● शीराज़ हिन्दी मिली। पढ़ी। अच्छी लगी। बिहार के इस आदिवासी क्षेत्र के आम पाठकों को क्या पता कि जम्मू और कश्मीर की अकादमी से हिन्दी में भी कोई इतनी अच्छी पत्रिका प्रकाशित होती है। इसलिए आप सबके प्रति कृतज्ञ हूं।

—इन्दुशेखर तिवारी

साहित्य सदन, नीमडीह, चाईबासा—८३३२०१

लेखकों से अनुरोध

* जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।
* रचनाएं कागज़ के एक ओर साफ-साफ लिख कर अथवा टाईप करवा कर भेजें।
* प्रकाशित रचनाओं पर पारिश्रमिक देने की भी व्यवस्था है।
* 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अंतर्गत समीक्षा के लिए किसी भी पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है।
* अनुवाद के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना न भूलें।

—सम्पादक

कागज़-स्याही के ज़ाया न किए जाने, फ़िज़ूल में पाठकों के वक़्त बरबाद न करने के मुद्दे पर मैं डॉ० अनिल के साथ हूं।

श्री कुंदन कुमार की बेलौस और सपाट कविताएं हवा के ताज़े झौंके की मानिन्द आईं। उन्हें बधाई दें !

—चन्द्रशेखर

हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

● **शीराज़ा** का फ़रवरी-मार्च १९८० अंक मिला। धन्यवाद। 'अकादमी डायरी' में अखिल भारतीय हिन्दी लेखक सम्मेलन के विवरण के सन्दर्भ में मुझे कहना है कि संक्षेप में लिखने की अपनी ज़रूरत के कारण आप उस चर्चा की चर्चा नहीं कर पाए जो 'अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखक' के प्रश्न को लेकर हुई थी। मैंने, अशोक जेरथ, आदर्श तथा कुछ अन्य साथियों ने साफ़ शब्दों में कहा था कि 'हम हिन्दी-लेखक हैं इतना काफ़ी है। हिन्दी हमारी अर्जित भाषा है तो इसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि हम अपनी हिन्दी को किसी तरह से सेकंड रेट मान लेंगे। इस तरह की कोई कुंठा पाले बिना हिन्दी के युवा लेखक को आगे बढ़ना चाहिए और हिन्दी के स्थापित लेखक-आलोचक को भी इस संदर्भ में अपना नज़रिया बदलना चाहिए क्योंकि इससे हिन्दी साहित्य के विकास में बाधा पड़ती ही है, हिन्दी भाषा के सर्वदेशीय रूप को भी क्षति पहुंचती है।' यह बात भी उभर कर सामने आई थी कि जो मूलतः हिन्दी-लेखक है उसके लेखन को अनूदित लेखन से वरीयता देनी ही होगी चाहे यह अनुवाद लेखक ने स्वयं किया हो।

श्री पुरी ने भाषा सम्बन्धी जो प्रश्न उठाए थे उनके संदर्भ में मेरा विनम्र निवेदन है कि भाषा तथा साहित्य मूलतः दो अलग चीज़ें हैं। उनके प्रचार-प्रसार, अध्ययन-अध्यापन की प्रविधियां पूरी तरह अलग हैं। हिन्दी राष्ट्र भाषा साहित्यिक समृद्धि के बल पर नहीं बनाई गई बल्कि इसलिए बनाई गई कि इसके समझने-बोलने वाले लोग भारत में सबसे अधिक हैं।

—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

● **शीराज़ा** का मार्च, ८० अंक मिला। हृदय से आभारी हूं। 'आधुनिक हिन्दी कहानी का सामाजिक बोध' शीर्षक परिचर्चा आधुनिक हिन्दी कहानी के दिशाबोध को गहराई से रेखांकित करती है और चर्चा में भाग लेने वाले साहित्यकारों की दृष्टि का भी अच्छा परिचय देती है। विस्तार में जाकर की गई परिचर्चा बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

—से० रा० यात्री

एफ०/ई० ७, नया कवि नगर, गाजियाबाद–२०१००१

● **शीराज़ा** का ४६वां ग्रंक, जो 'उन प्रतिभाओं को समर्पित है जिनके कन्धों पर भविष्य टिका हुआ है', देखा। प्रतिवर्ष 'शीराज़ा' का एक ग्रंक इन नई प्रतिभाओं को समर्पित किया जायेगा—अकादमी की यह योजना ठीक ही है। '...नई से नई प्रतिभाओं को अवसर देने की ज़िम्मेदारी शीराज़ा जैसी पत्रिकाओं को निभानी है।' यह कथन भी कानों में मिश्री घोलता है। 'शीराज़ा' और शीराज़ा जैसी पत्रिकाएं, अपने-अपने घेरे में रहकर कितनी स्वतन्त्रता से, इस ज़िम्मेदारी को सही अर्थों में निभा पायेंगी समय ही बता सकेगा। प्रकाशन के क्षेत्र में फैले बड़े नामों के आतंक ने इस प्रकार की प्रतिभाओं को आज ही नहीं, कल भी और कल भी, ढक लिया है, ढक लिया था और ढक लेंगी। इस 'ढकन-प्रक्रिया' का शिकार नई से नई प्रतिभा ही नहीं 'अन्य प्रतिभाएं' भी हो रही हैं, हुई थी, होंगी।

'ग्रपनी बात' के ही अनुसार शीराज़ा में प्रकाशित नए हस्ताक्षरों में से यदि एक ने भी सही लेखन के मर्म को पकड़ा तो वह इस ग्रंक की अभूतपूर्व सफलता होगी तथा पाठकों की विस्तार से लिखी टिप्पणियां उन्हें रचनाधर्मिता के ग्राधुनिक तकाज़ों को पूरा करने में सहायक सिद्ध होंगी।

सवाल यह है कि आधुनिक लेखन के सन्दर्भ में सही लेखन है क्या? और, क्या एक साधारण पाठक की विस्तार से लिखी टिप्पणी ही रचनाधर्मिता के आधुनिक तकाज़ों को पूरा कराने में समर्थ हो सकती है?

'शीराज़ा' के अन्य (असमर्पित) ग्रंकों में यदि, 'उठा-पटक की राजनीति' से ऊपर उठ कर, स्थापित और नई प्रतिभाओं का समुचित संतुलन बना रहे तो वेहतर होगा।

—पृथ्वी नाथ 'मधुप'

केन्द्रीय विद्यालय नं० २, जम्मू छावनी—१८०००३

● **शीराज़ा**–४६ मिल गया था, धन्यवाद। नयी प्रतिभाओं को ढूंढ निकालने का यह काम बेशक सराहनीय है।

'बाघ' तथा 'लहराती हुई पूंछ' कहानियां अच्छी लगीं। डॉ० चन्द्रशेखर का लेख विद्वत्तापूर्ण तो है मगर बोझल सा हो गया है (भाषा के एतबार से)। सर्वश्री महीप सिंह, राम दरश मिश्र तथा आपका पूर्व-प्रसारित परिसंवाद रोचक लगा। उपरोक्त रचनाओं ने पत्रिका के स्तर को कायम रखा है। हां, कुछ कविताएं भी सुन्दर बन पड़ी हैं। युवा-कवियों में कुछ नयी बात कहने का साहस और 'शऊर' दिखाई देता है। बात कैसे कही जाए अर्थात् कलापक्ष भी जानदार वन पड़ा है या कि नहीं इस ओर हमारा आज का युवा कवि कम ध्यान दे रहा है। कुशल सम्पादन के लिए वधाई।

—बन्धु शर्मा

४८, पक्की ढक्की, जम्मू

● शीराज़ा हिन्दी ४९ मिला। अंक रोचक लगा। नवीन प्रतिभाओं के प्रोत्साहन का उद्देश्य जितना पुनीत है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। कुशल सम्पादन के लिए बधाई।

—डॉ० प्रियतम कृष्ण कौल
डिग्री कालेज, पुंछ (जम्मू-कश्मीर)

● शीराज़ा हिन्दी मिली। पढ़ी। अच्छी लगी। बिहार के इस आदिवासी क्षेत्र के आम पाठकों को क्या पता कि जम्मू और कश्मीर की अकादमी से हिन्दी में भी कोई इतनी अच्छी पत्रिका प्रकाशित होती है। इसलिए आप सबके प्रति कृतज्ञ हूं।

—इन्दुशेखर तिवारी
साहित्य सदन, नीमडीह, चाईबासा—८३३२०१

लेखकों से अनुरोध

* जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।
* रचनाएं कागज़ के एक ओर साफ-साफ लिख कर अथवा टाईप करवा कर भेजें।
* प्रकाशित रचनाओं पर पारिश्रमिक देने की भी व्यवस्था है।
* 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अंतर्गत समीक्षा के लिए किसी भी पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है।
* अनुवाद के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना न भूलें।

—सम्पादक

A Publication of :
J&K Academy of Art, Culture & Languages, Jammu.
Printed at : Amar A t Press, Moti Bazar, Jammu.